वर्ष १]

विवेकानन्द - विशेषांक

[अंक १

विवेकानन्द - जन्म - शताब्दी के उपलक्ष में

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

जनवरी-मार्च, १९६३

विवेकानन्द-विशेषांक

(द्वितीय संस्करण)

सम्पादक-मण्डल

स्वामी आत्मानन्द,

सन्तोषकुमार झा, रामेश्वर नन्द

संचालक

स्वामी आत्मानन्द

व्यवस्थापक

रामेश्वरनन्द

विवेकानन्द आश्रम,

रायपुर (मध्य प्र०)

फोन नंबर १०४६

विवेक-ज्योति नियमावली

वार्षिक चन्दा ४)　　　　　　एक अंक का १)

ग्राहकों के लिए—

१. 'विवेक-ज्योति' जनवरी, अप्रेल, जुलाई और अक्तूबर महीने में प्रकाशित होती है। इसका वार्षिक चन्दा मनी आर्डर से भेजना चाहिए। पिछली प्रतियाँ बाकी रहने पर ही भेजी जा सकती हैं।

२. ग्राहकों को पत्र-व्यवहार करते समय ग्राहक--संख्या, नाम और पता स्पष्ट अक्षरों में लिखना चाहिए।

३. यदि कोई अंक न मिले, तो डाकखाने में पहले पूछ ताछ करनी चाहिये। जिस अवधि का अंक न मिला हो उसी अवधि में सूचना प्राप्त होने पर, अंक की प्रति बाकी रहने पर ही भेजी जायगी।

४. यदि पता बदल गया हो, तो उसकी सूचना तुरन्त दी जानी चाहिए।

लेखकों के लिए—

१ 'विवेक-ज्योति' में आध्यात्मिक, धार्मिक, सांस्कृतिक लेख तो रहेंगे ही, पर शिक्षा, मनोविज्ञान, कला, अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, विज्ञान प्रभृति महत्त्वपूर्ण विषयों पर जीवन के उन्नतर मूल्य सम्बन्धी लेख भी उसमें प्रकाशित किये जायेंगे। उसी प्रकार, उच्च भावों की प्रेरणा देनेवाले ऐतिहासिक और राष्ट्रीय चरित्रों के लिए भी इस त्रैमासिक में स्थान रहेगा। सुसंस्कृत अभिरुचिपूर्ण कविता, विशिष्ट दृष्टिकोण से लिखे गये यात्रा-प्रसंग तथा पुस्तकों की समीक्षा को भी इसमें स्थान प्राप्त होगा।

२. किसी प्रकार की व्यक्तिगत या विघातक टीका के लिए 'विवेक-ज्योति' में स्थान न रहेगा।

३. लेख में प्रतिपादित मत के लिए लेखक ही जिम्मेदार रहेगा।

४. लेख को प्रकाशन के लिए स्वीकृत करने पर उसकी सूचना एक माह के भीतर दी जायगी। अस्वीकृत रचनाएँ आवश्यक टिकट प्राप्त होने पर ही वापस की जायेंगी।

५. यदि लेख एक अनुवाद हो, तो लेखक को साथ में यह भी सूचना देनी चाहिए कि अनुवाद की आवश्यक अनुमति ले ली गयी है।

६. लेख कागज के एक ही ओर सुवाच्य अक्षरों से लिखे जायँ।

७. लेख सम्बन्धी पत्र-व्यवहार सम्पादक से करना चाहिए।

८. पुस्तक की समीक्षा के लिए उसकी दो प्रतियाँ भेजनी चाहिए।

विज्ञापन देनेवालों के लिए—

-: अनुक्रमणिका :-

प्रकाशक-स्वामी आत्मानन्द,

विवेकानन्द आश्रम,

रायपुर (मध्य प्रदेश)

"न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते"

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण–विवेकानन्द–भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

वर्ष १] जनवरी–मार्च, १९६३ [अंक १

वार्षिक चन्दा ४) ★ एक प्रति का १)

:: प्रार्थना ::

स नः पितेव सूनवे

अग्ने सूपायनो भव ।

सचस्वानः स्वस्तये ।

—"हे ज्ञानस्वरूप परमेश्वर, जिस तरह पुत्र पिता को आसानी से पा जाता है, उसी तरह हम भी तुम्हें पा सकें, तुम हमारे लिए उसी तरह सुलभ बनो और हमारा मंगल करने के लिए हमारे निकट निवास करो।"

—ऋग्वेद, मण्डल १ सूक्त १, मंत्र ९।

सम्पादकीय

हिन्दी-जगत् में एक लम्बे अरसे से एक ऐसे नियतकालिक पत्र की प्रतीक्षा थी, जो भगवान् श्रीरामकृष्ण परमहंस तथा उनके शिष्यप्रमुख स्वामी विवेकानन्द की भावधारा से अनुप्राणित हो। इस त्रैमासिक पत्र का प्रकाशन उसी आवश्यकता की पूर्ति की ओर एक लघु प्रयास है।

आज के राष्ट्रीय सन्दर्भ में स्वामी विवेकानन्द के भावप्रसार की अनिवार्यता निर्विवाद है। आज, जब धर्म के सिद्धान्तों को विज्ञान की नवीनतम उपलब्धियों के निकष पर कसा जा रहा है, हमें धर्म की ऐसी व्याख्या की आवश्यकता है, जो विज्ञान की प्रवृत्ति की रक्षा कर सके। धर्म केवल विश्वास की वस्तु न हो, प्रत्युत उसके सिद्धान्तों का परीक्षण जिज्ञासु साधकों द्वारा उसी प्रकार हो सके, जैसे विज्ञान के सिद्धान्त प्रयोगशाला में परीक्षित होते हैं। स्वामी विवेकानन्द ने धर्म के इसी प्रायोगिक रूप पर बल दिया है, विज्ञान की प्रवृत्ति के अनुरूप उसकी व्याख्या प्रस्तुत की है। साथ ही, उन्होंने धर्म को वैयक्तिक स्वर्ग-प्राप्ति अथवा मुक्ति-प्राप्ति रूपी संकीर्ण लक्ष्य से निकालकर सेवा का बृहत्तर रूप प्रदान किया है। इसीलिए विवेकानन्द युगाचार्य हैं, युग के अनुरूप नये स्मृति-शास्त्र का प्रणयन करनेवाले ऋषि हैं।

आज जब हम स्वामीजी की शतवार्षिक जयन्ती के उपलक्ष में इस पत्र का 'श्रीगणेश' कर रहे हैं, हमें कन्या-कुमारी के शिलाखंड पर बैठे हुए स्वामीजी की उस ऋषिमूर्ति का बरबस ध्यान हो आता है, जब उन्होंने भारतवर्ष की समग्रता के दर्शन किये थे। दृश्य इस प्रकार है:—

श्रीरामेश्वर-धाम में भगवान् श्रीविश्वेश्वर शिव के दर्शन कर स्वामीजी कन्याकुमारी के दर्शनार्थ रवाना हुए भारतवर्ष के दक्षिणी छोर पर समुद्र के किनारे स्थित यह मातृमन्दिर अनुपम शोभा का विस्तार करता है और भक्तों के हृदय में आध्यात्मिक भावनाओं की सरस सरिता प्रवाहित कर देता है। एक छोर पर नगाधिराज हिमालय के स्नेहसिक्त क्रोड़ में पला हुआ बदरिकाश्रम आध्यात्मिक भावसम्पदा का अशेष भाण्डार खोलकर श्रद्धालुओं को अपनी ओर आकर्षित कर रहा है, तो दूसरे छोर पर चिर-चंचल सागर की गर्जन-ध्वनियों के बीच माता कन्याकुमारी अपनी सन्तानों को अविचलता और शान्ति का पाठ पढ़ाने को कटिबद्ध है। स्वामीजी माता के दर्शनों के विचार से आह्लादित हो उठे। उनका मन-मयूर थिरक उठा। बालक के समान अधीर हो, वे द्रुत पदों से मंदिर की ओर आये और माता के विग्रह के सम्मुख भाव-विभोर हो लोट-पोट होने लगे। आज मानो जीवन की एक महान् साध पूरी हो गयी। माता की पूजा कर स्वामीजी मन्दिर से बाहर आये। विचारों में खोये हुए-से वे समुद्र के किनारे खड़े ही हुए थे कि उनकी दृष्टि जल में कुछ दूर पर स्थित एक शिलाखंड पर पड़ी। निर्जन स्थान था वह। स्वामीजी समुद्र में कूद पड़े और तैरकर उस चट्टान पर जा पहुँचे। चारों ओर से सागर की क्षुब्ध तरंगें चट्टान से टकरा-टकराकर अपना असीम असंतोष प्रकट कर रही थीं, पर स्वामीजी का मानस-सिन्धु तो और भी भीषण रूप से विक्षुब्ध हो रहा था। भारत की असंख्य समस्याएँ उनके हृदय को मथ-सी डाल

रही थीं। आखिर, इन समस्याओं का निदान क्या है? एक-एक समस्या उनके मनश्चक्षु के सम्मुख स्पष्ट से स्पष्टतर रूप धारण कर, लहराती हुई समीप, और भी समीप, आती और उनके हृदय-सागर के छोरों से टकराकर धीरे-धीरे दूर—और भी दूर जाकर शून्य में विलीन-सी हो जाती। आखिर, इस देश के पतन का क्या कारण है? क्या कारण है कि देवताओं और ऋषियों के लाखों वंशधर आज पशुतुल्य हो गये हैं? स्वामीजी गम्भीर ध्यान में मग्न हो गये। भारत का सम्पूर्ण अतीत, वर्तमान और भविष्य उनके ध्यान में मानो साकार हो उठा और तब किसी ने मानो उनके मनश्चक्षु के सामने पड़े हुए अन्धकार के पर्दे को उठा दिया। अद्भुत दर्शन था वह! जागतिक समस्त भेद-भावों के परे, उन्होंने भारत की सनातन अखण्ड आत्मा के दर्शन किये। वहाँ न बंगाल था, न पंजाब, न मद्रास था, न महाराष्ट्र, था केवल भारत और उसकी शाश्वत अखण्डता-समस्त भौगोलिक सीमाओं के परे, जातीयता की बू से दूर-बहुत दूर। शत-शत शताब्दियाँ उनकी आँखों के सामने बिछ गयीं और उन्होंने देखा भारतीय संस्कृति की वास्तविकता को, उसकी अगाध शक्ति-मत्ता को। देखा कि भारत अभी भी जीवित है, राख से ढकी अग्नि के समान उसकी चेतना अन्दर ही-अन्दर अभी भी सुलग रही है। देखा कि राख को दूर भर करना है, फिर तो आग, स्वच्छन्द बहती हुई हवा के संयोग से आप ही धधक उठेगी। देखा कि धर्म ही यह अग्नि है, जिस पर अन्धविश्वास और कुसंस्कार की राख स्तूपाकार जम गयी है। ये अन्धविश्वास

कैसे पनपे ? पुरोहितों की स्वेच्छाचारिता से, उनके अत्याचारों से, जाति-भेद की निर्मम कठोरता से और इन सबके फल-स्वरूप उत्पन्न जघन्य सामाजिक विषमताओं से। इन सबने मिलकर धर्मभीरु, सरलहृदय, निष्कपट लोगों को तो नीच और अस्पृश्य बना दिया और जो वृथा जाति के अभिमानी, धर्मध्वजी, पाखण्डी जन थे, उन्हें समाज का सिरमौर करार दिया। यही भारत के अधिकांश जनसमुदाय की गरीबी का कारण है। ये दीन और गरीब एक बार जो कुचले गये तो कुचलाते ही गये, वे फिर न उठ सके। भारत के इन दीन-दुखियों की याद से स्वामीजी की आँखें गीली हो आयीं। उन्होंने देखा कि धर्म ही एक ऐसा तत्त्व है, जो लक्ष-लक्ष भारतवासियों की नस-नस में रक्त से घुल-मिलकर प्रवाहित हो रहा है; यह धर्म उनके जीवन से, उनकी आत्मा से मिल-कर एक हो गया है। उन्होंने अनुभव किया कि धर्म भारत के पतन का दोषी नहीं है, वरन् धर्म को आचरण में न उतारना ही भारत की दुर्दशा का कारण है। उन्होंने स्पष्ट रूप से अनुभव किया कि जिस आध्यात्मिक भाव-सम्पदा के फलस्वरूप भारत सर्वदा से अन्य देशों का मुकुट बना रहा है तथा सकल धर्म-विश्वासों की जननी के रूप में पूजित हुआ है, उसी आध्यात्मिकता को एक बार पुनः जगाना होगा, पुनः उसकी प्रतिष्ठा करनी होगी, तभी भारत जागेगा। भारत ने अपना व्यक्तित्व खो दिया है। अपने इस खोये हुए व्यक्तित्व को पुनः प्राप्त करने के लिए ऋषियों की संस्कृति का फिर से प्रचार करना ही एकमात्र उपाय है।

भारत के उस अन्तिम शिलाखंड पर बैठे हुए इस एकाकी युवा संन्यासी का हृदय भारत के तिरस्कृत और पददलित लोगों की आहों से व्यथित हो उठा। उनकी हृत्तन्त्री के तार भारत की नंगी, भूखी, अशिक्षित जनता की बेबसी के रागों में बँधे हुए थे। देश में चहुँओर व्याप्त दरिद्रता का नग्न आर्तनाद उन तारों को झनझना देता और स्वामीजी को प्रतीत होता, मानो कोई उनके हृदय को निचोड़े डाल रहा है। उस अन्तिम शिलाखंड पर बैठे हुए उन्होंने सोचा कि यदि धर्म जनसमुदाय को छोड़कर केवल कुछ इने-गिने लोगों की स्वार्थ सिद्धि का साधन हो, तो ऐसे धर्म का क्या प्रयोजन? धर्म तो वह है, जो सबको लेकर चले, जो सबको जीवन के कंटकाकीर्ण पथ पर, मानव-जीवन के आदर्श की ओर अग्रसर होने के लिए समान अवसर प्रदान करे जो अपने को धर्म का संरक्षक समझते हैं, उन्हीं ने तो सदियों से जनसमुदाय को पैरों-तले रौंदकर रखा है। इस विचार ने मानो सारे वातावरण में कटुता घोल दी। इस समय की अपनी मानसिक स्थिति का वर्णन करते हुए स्वामीजी ने बाद को अपने एक पत्र में लिखा था, इन सब विचारों ने, और विशेषकर, देश की गरीबी और अज्ञानता के विचारों ने मेरी नींद हर ली। कन्याकुमारी में, माता के मन्दिर में बैठे हुए, भारत के अन्तिम शिलाखंड पर बैठे हुए मुझे एक उपाय सूझ पड़ा—अच्छा, हम लोग इतने संन्यासी हैं, इधर-उधर घूमते रहते हैं, लोगों को दर्शन और ज्ञान की शिक्षा देते फिरते हैं—यह सब पागलपन है। क्या हमारे गुरुदेव (श्रीरामकृष्ण) यह नहीं कहा करते थे

कि 'भूखे भजन न होइ गोपाला'? ये बेचारे गरीब केवल अज्ञान के कारण पशुओं का-सा जीवन बिता रहे हैं। हम युगों से उनका रक्त चूसते रहे हैं, उन्हें पैरों तले रौंदते रहे हैं। हम एक राष्ट्र के रूप में अपना व्यक्तित्व खो चुके हैं और यही भारत में सारी गड़बड़ी का कारण है। हमें राष्ट्र को उसका खोया हुआ व्यक्तित्व पुनः प्रदान करना है और जनसमुदाय को ऊपर उठाना है।"

पर यह किस तरह से सम्भव हो? स्वामीजी ने सूक्ष्म दृष्टि से देखा कि 'त्याग' और 'सेवा' ही भारत के दो चिरन्तन आदर्श रहे हैं। यदि हम भारतीय जीवन में इन दो आदर्शों को गतिशील बना सकें, तो अन्य समस्याएँ आप ही आप हल हो जायेंगी। भारत में त्याग ही सदा से शक्ति का महान् स्रोत रहा है। अतः इस विकट परिस्थिति में देश की पीड़ित, पददलित जनता को ऊपर उठाने के लिए उन्होंने त्यागी पुरुषों का ही मुँह जोहा। उन्हें पूरी आशा थी कि प्रत्येक नगर में उन्हें ऐसे दस-बारह युवक अवश्य मिल जायेंगे जो उनके इस कार्य में हाथ बटाने के लिए आगे बढ़ आयेंगे। पर युवक ही तो सब कुछ नहीं थे। इस कार्य के लिए प्रचुर धन की भी आवश्यकता थी। वह कहाँ से आये? वे तो कौड़ीशून्य संन्यासी थे! अपने पर्यटनकाल में उन्होंने कई अमीरों और राजाओं से भेंट की थी और उनके समक्ष अपनी योजनाएँ रखी थीं। पर शाब्दिक सहानुभूति के अतिरिक्त उन्हें और कुछ प्राप्त नहीं हुआ था। उन लोगों के सम्बन्ध में वे बाद में लिखते हैं, "वे तो स्वार्थ के पुतले हैं—वे, और दमड़ी खर्च

करें।" तब धन कैसे प्राप्त हो ? धन की समस्या उनके सामने लहराते हुए सागर की गहराई के समान ही अथाह थी। स्वामीजी निराश-से हो गये। अपनी इस बेबसी पर उनका हृदय रो उठा। अन्तर की विगलित करुणा नेत्रों के मार्ग से बाहर झरने लगी। तभी, अचानक, निराशा की उस सघन मेघमाला को चीरते हुए कहीं से प्रकाश की रेखा खिंच आयी। "हां" उन्होंने निश्चय किया, मैं समुद्रों को पार कर अमेरिका जाऊंगा। वहां अपने मस्तिष्क की शक्ति से धन कमाऊंगा और भारत लौटकर अपने देशवासियों को ऊपर उठाने के लिए अपनी योजनाओं को मूर्त रूप देने की कोशिश करूंगा। इस प्रयत्न में प्राण रहे या जायें, इसकी तनिक चिन्ता नहीं। यदि मेरी सहायता को कोई आगे न आया, तो श्रीरामकृष्ण मुझे राह दिखायेंगे।"

भारत की राष्ट्रीय चेतना के इतिहास में कन्याकुमारी का यह शिलाखण्ड अपना विशिष्ट स्थान रखता है। युगों से प्रगाढ़ निद्रा में निमग्न भारत की राष्ट्रीय चेतना आज विवेकानन्द के अनन्त विस्तारित, संवेदनशील हृदय में एक बार फिर से जाग उठती है। भारत के भाग्य जाग उठते हैं। आत्मद्रष्टा विवेकानन्द आज युग-द्रष्टा, राष्ट्र-द्रष्टा आचार्य हो जाते हैं। इसी समय से उनका जीवन सर्वतोभावेन भारत की सेवा में समर्पित हो जाता है और यहां के 'अछूत-नारायण', 'भूखे-नंगे नारायण', 'उत्पीड़ित और दलित नारायण' स्वामीजी के विशेष सेव्य हो जाते हैं। भारतीयों की सेवा के सामने निर्विकल्प समाधि का ब्रह्म-साक्षात्कार

और ब्रह्मानन्द गौण हो जाता है। स्वामीजी आज अपने ही शब्दों में Condensed India (घनीभूत भारत) हो जाते हैं। उनकी आँखें सामने बिछी हुई अनन्त जलराशि पर एकटक बँध जाती हैं और हृदय श्रीरामकृष्ण एवं माताजी के चरणों में सम्पूर्ण रूप से निवेदित हो जाता है। अब उनकी एकमात्र प्रार्थना है भारत के कल्याण की—हाँ, उसके सर्वांगीण कल्याण की। अब धर्म एक नया रूप लेकर उनके सामने उपस्थित होता है। अब धर्म केवल वेदों के, उपनिषदों के, ऋषियों की ध्यान-तपस्या अथवा आत्मानुभूति के रूप में ही उनके सम्मुख नहीं आता, वरन वह तो अब जनसमुदाय के हृदय-स्पन्दनों का, उनकी मुरझायी हुई जीवन-लता और मिटी हुई आशाओं का, उनकी टीस और आहों का, उनकी कुचली हुई भावनाओं और गिरे हुए जीवन-स्तर का रूप लेकर सामने आता है। ध्यान की उस प्रगाढ़ तन्मयावस्था में स्वामीजी भारत के लिए उस शक्ति के अनन्त स्रोत का द्वार उद्घाटित कर देते हैं, जिसके बल पर भारत पुनः सच्चे अर्थों में विश्व का पथ-प्रदर्शक होनेवाला है। तभी तो उन्होंने बाद में अपने एक पत्र में लिखा था, "अब भारतमाता जाग उठी है। अब संसार की कोई भी शक्ति उसका पथावरोध नहीं कर सकती।"

* * *

बस, यही हमारे इस पत्र की भूमिका है। स्वामीजी के इन्हीं प्रेरणादायी विचारों को फैलाने का प्रयास हम इस पत्र के माध्यम से करना चाहते हैं।

कर्मठ वेदान्त--स्वामी विवेकानन्द

डाक्टर रामधारीसिंह दिनकर, संसद सदस्य, नई दिल्ली

परमहंस रामकृष्ण ने साधनापूर्वक धर्म की जो अनुभूतियाँ प्राप्त की थीं, स्वामी विवेकानन्द ने उनसे व्यावहारिक सिद्धान्त निकाले। रामकृष्ण आध्यात्मिकता के अद्भुत यंत्र थे। उनकी दृष्टि समाज या व्यक्ति के सुधार पर नहीं थी, न वे इस्लाम या ईसाइयत के आक्रमणों से हिन्दुत्व की रक्षा करने को आतुर थे। देश में बौद्धिकता के साथ नास्तिकता का प्रचार बढ़ता जा रहा था, किन्तु रामकृष्ण को इसकी भी चिन्ता नहीं थी। वस्तुतः संसार से उन्हें कोई प्रयोजन नहीं था। वे आत्मानन्द की खोज में थे एवं आनन्द का सबसे सुगम मार्ग उन्हें यह दिखाई पड़ा था कि अपने आपको वे काली की कृपा के भरोसे छोड़ दें। उनका सारा जीवन प्रकृति के निश्छल पुत्र का जीवन था, वे अदृश्य सत्ता के हाथ में एक ऐसा यंत्र बन गये थे, जिसमें कालिमा नहीं थी, मैल नहीं थी, अतएव जिसके भीतर से अदृश्य अपनी लीला का चमत्कार अनायास दिखा रहा था। बहुत दिनों से हिन्दुओं का विश्वास रहा है कि हृदय के पूर्ण रूप से निर्मल हो जाने पर, मन से स्वार्थ की सारी गंध निकल जाने पर एवं चित्त में छल की छाया भी नहीं रहने पर मनुष्य की सहज वृत्ति पूर्ण रूप से जाग्रत् हो जाती है एवं तब धर्म की अनुभूतियाँ उसके भीतर आप से

आप जागने लगती हैं। रामकृष्ण के जीवन में यह सत्य साकार हो उठा था। अतएव धर्म की सारी उपलब्धियाँ उन्हें आप से आप प्राप्त हो गयीं। उन उपलब्धियों के प्रकाश में विवेकानन्द ने भारत और समग्र विश्व की समस्याओं पर विचार किया एवं उनके जो समाधान उन्होंने उपस्थित किये वे, असल में, रामकृष्ण के ही दिये हुए समाधान हैं। रामकृष्ण और विवेकानन्द, ये दोनों एक ही जीवन के दो अंश, एक ही सत्य के दो पक्ष हैं। रामकृष्ण अनुभूति थे, विवेकानन्द उसकी व्याख्या बनकर आये। रामकृष्ण दर्शन थे, विवेकानन्द ने उनके क्रियापक्ष का आख्यान किया। स्वामी निर्वेदानन्द ने रामकृष्ण को हिन्दू धर्म की गंगा कहा है जो वैयक्तिक समाधि के कमंडलु में बंद थी। विवेकानन्द इस गंगा के भगीरथ हुए और उन्होंने देवसरिता को रामकृष्ण के कमंडलु से निकालकर सारे विश्व में फैला दिया।

स्वामी विवेकानन्द का घर का नाम नरेन्द्रनाथ दत्त था। वे सन १८६३ ई० की १२ जनवरी को कलकत्ते में एक क्षत्रिय परिवार में पैदा हुए थे। उन्होंने कालेज में शिक्षा पायी थी और बड़ी योग्यता के साथ बी० ए० पास किया था। अपने छात्र-जीवन में वे उन हिन्दू युवकों के साथी थे जो यूरोप के उदार एवं विवेकशील चिन्तकों की विचारधारा पर अनुरक्त थे तथा जो ईश्वरीय सत्ता एवं धर्म को शंका से देखते थे। विवेकानन्द का आदर्श उस समय यूरोप था एवं यूरोपीय उद्दामता को वे पुरुष का सबसे तेजस्वी लक्षण मानते थे। नरेन्द्रनाथ का शरीर काफी विशाल और मांसपेशियाँ सुपुष्ट

थीं । वे कुश्ती, बाक्सिग, दौड़, घुड़दौड़ और तैरना सभी के प्रेमी और सबमें भलीभाँति दक्ष थे । वे संगीत के भी प्रेमी और तबला बजाने में उस्ताद थे । इस प्रकार विवेकानन्द में वे सभी गुण प्रचुर मात्रा में विद्यमान थे, जो रामकृष्ण को नहीं मिले थे । रामकृष्ण का शरीर कोमल और कमजोर था । उनके स्वभाव में भी स्त्रीत्व का अंश अधिक था एवं आरम्भ से ही उनमें सात्त्विकता बहुत उच्च कोटि की थी । इसके विपरीत, विवेकानन्द का शरीर पुष्ट तथा स्वभाव पौरुष के वेगों से उच्छल एवं उद्दाम था तथा आरम्भ से ही उनके भीतर राजसिकता के भाव थे । विद्या की दृष्टि से भी देखें तो रामकृष्ण करीब-करीब अपढ़ व्यक्ति थे तथा उनकी सारी पूँजी उनकी सहज वृत्ति थी, जबकि नरेन्द्रनाथ संस्कृत और अंग्रेजी के उद्भट विद्वान् एवं यूरोप के तार्किकों एवं दार्शनिकों की विद्याओं में परम निष्णात थे । उनमें सहज वृत्ति के बदले तार्किकता और विवेकशीलता की ज्वाला प्रचण्ड रूप से जल रही थी । उनमें यूरोपीय सभ्यता की वह प्रवृत्ति अत्यन्त प्रखर थी, जो निरन्तर खोज और सतत अनुसन्धान में लगी रहती है, जो किसी भी कथन को प्रमाण नहीं मानकर प्रत्येक विषय का विश्लेषण स्वयमेव करना चाहती है, तथा जो सत्य की खोज में विवेक और बुद्धि को छोड़कर और किसी वस्तु का सहारा नहीं लेती । नरेन्द्रनाथ हर्बर्ट स्पेंसर और जोन स्टुअर्ट मिल के प्रेमी थे । वे शेली के सर्वात्मवाद और वर्डस्वर्थ की दार्शनिकता के प्रेमी एवं हीगेल के वस्तुनिष्ठात्मक आदर्शवाद पर अनुरक्त थे । फ्रांसीसी राज्य-

क्रान्ति का प्रभाव, उस समय, साहित्य के माध्यम से भारत में जोरों से फैल रहा था एवं नरेन्द्रनाथ भी उसके स्वतंत्रता, समानता और भ्रातृत्व के सिद्धान्त-त्रय में बड़े उत्साह से विश्वास करते थे। यूरोपीय संस्कारों का उनमें पूरा जोर था और, कहते हैं, अपने छात्र-जीवन में वे केवल शंकावादी ही नहीं, प्रचण्ड नास्तिक के समान बातें करते थे। किन्तु बौद्धिकता के इन समस्त उद्वेगों के बीच उनके भीतर वह जिज्ञासा काम कर रही थी, जो पैगम्बरों में उठा करती है, अवतारों और धर्म-संस्थापकों में जगा करती है, जो सभी प्रश्नों से ऊपर उठकर, यह समझना चाहती है कि सृष्टि है क्या? जीव सान्त है या अनन्त? जन्म के पूर्व हम कहाँ थे? मृत्यु के पश्चात् हम कहाँ जायेंगे? सृष्टि कोई आकस्मिक घटना है या इसके भीतर कोई नियम काम कर रहा है? यदि हाँ, तो उस नियम का निर्माता कौन है? यही जिज्ञासा आरम्भ में उन्हें ब्रह्म-समाज की ओर ले गयी और वहाँ से निराश होने पर यही जिज्ञासा उन्हें दक्षिणेश्वर ले आयी, जहाँ रामकृष्ण अपनी वैयक्तिक साधना में लीन थे, किन्तु जहाँ से यह संवाद सारे बंगाल में फैल रहा था कि भारत में धर्म फिर से जीता-जागता रूप लेकर अवतरित हुआ है, जिसके प्रमाण रामकृष्ण हैं।

रामकृष्ण हिन्दू-धर्म की समग्रता के प्रतिनिधि थे। हिन्दुत्व के पौराणिक रूपों की ईसाइयों और बुद्धिवादियों ने कसकर निन्दा की थी। राममोहन राय और दयानन्द जब हिन्दुत्व की ओर से बोलने को खड़े हुए, तब उन्हें भी

हिन्दुत्व के पौराणिक रूपों की ओर से बोलने का साहस नहीं हुआ, क्योंकि धर्म के इन रूपों की ओर से ऐसा तर्क ही नहीं दिया जा सकता था, जो बुद्धिवादियों को मान्य हो। निदान, हिन्दुत्व ने रामकृष्ण में अपना जीवित रूप प्रकट किया और आलोचकों से यह कहा कि जिसे तुम बुद्धि से नहीं समझ सकते, उसे आँखों से देख लो। अतएव, रामकृष्ण धर्म के उन रूपों के प्रतिनिधि हुए, जिन पर ईसाई प्रचारकों का कोप था तथा जो बुद्धिवादी हिन्दुओं की भी समझ में नहीं आते थे। किन्तु नरेन्द्रनाथ बुद्धिवाद की प्रतिमा थे, यूरोपीय विचारधाराओं के मूर्तिमान् रूप थे एवं उनके भीतर वे सारे संस्कार वर्तमान थे, जिनके कारण अंग्रेजी पढ़े-लिखे हिन्दू भी हिन्दू-धर्म की आलोचना करने लगे थे। वस्तुतः, नरेन्द्रनाथ जब रामकृष्ण की शरण गये, तब असल में नवीन भारत ही प्राचीन भारत की शरण में गया था। अथवा यूरोप भारत के सामने आया था। रामकृष्ण और नरेन्द्रनाथ का मिलन श्रद्धा और बुद्धि का मिलन था, रहस्यवाद और बुद्धिवाद का मिलन था। इन दो मूर्तियों में से एक तो पुराणों के सत्यों में लिपटी हुई थी, धर्म के बाह्याचारों को भी सत्य मानकर उन्हें कायम रखना चाहती थी तथा प्राचीन भारत की सभी साधनाओं को सत्य बतलाना चाहती थी और दूसरी तर्क से उच्छल एवं धर्म के बाह्य बन्धनों को तोड़कर प्राचीनता से बाहर निकल जाने को बेचैन थी। रामकृष्ण ने नरेन्द्रनाथ से कुछ भी नहीं लिया, हाँ, अपनी साधना का तेज और अपनी अदृश्यदर्शिनी दृष्टि को नरेन्द्रनाथ में उतार-

कर उन्होंने उन्हें विवेकानन्द अवश्य बना दिया। कदाचित्, रामकृष्ण और विवेकानन्द के मिलन में पूर्वी और पश्चिमी जगतों का ही मिलन सम्पन्न हुआ है और, शायद जिस दिन पश्चिमी जगत् के लोग पूर्वी जगत् के आध्यात्मिक संस्कारों को आत्मसात् करेंगे, भूमण्डल का कल्याण उसी दिन होगा और उसी दिन विश्व भर के शान्ति-साधकों के सपने साकार होंगे। किपलिंग ने जो यह बात कही है कि पूर्व पूर्व और पश्चिम पश्चिम है तथा दोनों का मिलन नहीं होगा, वह असत्य है। सत्य तो यही दिखता है कि पश्चिम पूर्व से मिलेगा और ठीक उसी प्रकार मिलेगा, जैसे नरेन्द्रनाथ रामकृष्ण से मिले थे।

उपनिषदों के समय से भारतवर्ष निवृत्तिवादियों का देश रहा था। एक दृष्टि से देखिए तो निवृत्ति और प्रवृत्ति धर्म के भीतर की राजनीति हैं, जैसे साहित्य की राजनीति क्लासिक और रोमांटिक का विवाद है। किन्तु, राजनीति यह केवल पंडितों की है। पंडित ही निवृत्ति के पर्दे में प्रवृत्ति का रस लेते हैं, बाहर त्याग का उपदेश देते हैं, संसार को निस्सार बताते हैं और भीतर उसे सारपूर्ण मानकर उसका उपभोग करते हैं। किन्तु इस दगाबाजी से जनसाधारण मारा जाता है। जनता के पास छल-प्रपंच और दाँव-पेंच इतने नहीं होते जितने पंडितों के पास होते हैं। परिणाम यह होता है कि पंडित देश में जैसी दार्शनिक धारा चला देते हैं, जनता के कर्म बहुत-कुछ उसी के अनुरूप हो जाते हैं। वैदिक हिन्दू प्रवृत्ति-मार्गी थे। उनके ऋषि भी गृहस्थ और

धर्माचार्य भी बाल-बच्चों वाले होते थे। जो लोग वैदिक मंत्रों के द्रष्टा थे, ऊँचे दार्शनिक सिद्धान्तों के आविष्कर्ता और व्याख्याता थे, वे भी खेतों में काम करते थे तथा गउओं का पालन-पोषण करके परिवार का पालन एवं अतिथियों की सेवा करते थे। जब समाज प्रवृत्तिमार्गी होता है, तब शारीरिक श्रम निन्दा की वस्तु नहीं होता। उस समय हलवाहे और विद्वान् दोनों एक समान उद्यमी होते हैं। वैदिक काल का समाज ऐसे ही कर्मठ लोगों का समाज था, जब हाथ और मस्तिष्क में कोई बैर नहीं था। तब उपनिषदों का समय आया और पंडितों ने यह सिद्धान्त निकाला कि जीवन का सर्वश्रेष्ठ लक्ष्य मोक्ष है और मोक्ष पाने के लिए कामिनी और कंचन का त्याग आवश्यक है। परिणाम यह हुआ कि हट्टे-कट्टे तन्दुरुस्त नौजवान सन्यासी होने लगे और नारियों की मर्यादा समाज में घटने लगी। फिर भी वैदिक संस्कार अभी निःशेष नहीं हुआ था, इसीलिए उप-निषदों में कहीं-कहीं हम यह उपदेश भी देखते हैं कि भोग निरे अनादर की वस्तु नहीं है, यदि वह त्याग के साथ किया जाय (तेन त्यक्तेन भुँजीथा) किन्तु जैन और बौद्ध धर्मा-चार्यों ने सन्यास की इतनी महिमा गायी कि सारा समाज सन्यासियों से भर गया। फिर तो भारत में सदियों तक निवृत्ति-निवृत्ति की भयानक ध्वनि गूँजती रही और कोई भी सुधारक ऐसा उत्पन्न नहीं हुआ जो समाज को फटकारे कि निवृत्ति की अतिशयता मनुष्य को कायर एवं दरिद्र बना देती है। भक्ति-काल में आकर निवृत्ति का जहर कुछ कम

अवश्य हुआ, किन्तु भक्त पण्डित और कवि स्वयं निवृत्ति के संस्कारों से ग्रसित थे और यद्यपि कहने को वे द्वैत अथवा विशिष्टाद्वैत की बातें कह रहे थे, किन्तु अन्तर्मन उनका भी यह मानता था कि 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' वाला सिद्धान्त सत्य है। कबीर, नानक और उधर वल्लभाचार्य ने गृहस्थी बसाकर संसार को सम्मान अवश्य दिया, किन्तु जनता को प्रवृत्ति के मार्ग पर लाने का सचेष्ट प्रयास उनमें भी नहीं था। कबीर आदि निर्गुण लोगों के उपदेश तो निश्चित रूप से निवृत्ति को बढ़ावा देने वाले थे। दार्शनिक स्तर पर जीवन को असत्य कहते-कहते हिन्दुओं ने उसे सचमुच असत्य मान लिया और देश और समाज से उनकी दिलचस्पी दिनों-दिन कम होती चली गयी। प्रत्येक हिन्दू माँ के पेट से ही इस विश्वास को लेकर आने लगा कि परलोक की साधना सबसे श्रेष्ठ सुकर्म है, चाहे लोक हमारे हाथों से छूट ही क्यों न जाय। इसीलिए कंठी, माला, आरती और घंटे में मग्न हिन्दुओं को यह बात कभी अखरी ही नहीं कि उनका देश पराधीन है अथवा वे निर्धन और दरिद्र होते जा रहे हैं। यह विचित्र बात है कि धर्म को अफीम कहने वाला चिन्तक यूरोप में जन्मा जबकि धर्म ने सबसे अधिक विनाश हिन्दुओं का किय है।

उन्नीसवीं सदी में अँगरेजी पढ़े-लिखे हिन्दू अपने धर्म के इन कुपरिणामों को समझने लगे थे। एक यह भी कारण था कि धर्म पर से उनकी श्रद्धा हटने लगी थी। अतएव, स्वामी विवेकानन्द का आविर्भाव हुआ। उन्हें अपने सामने

कई प्रकार के उद्देश्य दिखाई पड़े। सबसे बड़ा काम धर्म की पुनःस्थापना का काम था। बुद्धिवादी मनुष्यों की श्रद्धा धर्म पर से केवल भारत में ही नहीं, प्रत्युत सभी देशों में हिलती जा रही थी। अतएव, यह आवश्यक था कि धर्म की ऐसी व्याख्या प्रस्तुत की जाय जो अभिनव मनुष्य को ग्राह्य हो, जो मनुष्य की इहलौकिक विजय के मार्ग में बाधा नहीं डाले। दूसरा काम हिन्दू धर्म पर कम से कम हिन्दुओं की श्रद्धा को जमाये रखना था। किन्तु हिन्दू यूरोप के प्रभाव में आ चुके थे तथा अपने धर्म और इतिहास पर भी वे तब तक विश्वास करने को तैयार नहीं थे जब तक कि यूरोप के लोग उनकी प्रशंसा नहीं करें। और तीसरा काम भारतवासियों में आत्म-गौरव की भावना को प्रेरित करना था, उन्हें अपनी संस्कृति, इतिहास और आध्यात्मिक परम्पराओं का योग्य उत्तराधिकारी बनाना था।

स्वामी विवेकानन्द का देहान्त केवल ३९ वर्ष की आयु में हो गया, किन्तु इस छोटी सी अवधि में ही उन्होंने उपर्युक्त तीनों कार्य सम्पन्न कर दिये। राममोहन राय के समय में भारतीय संस्कृति और समाज में जो आन्दोलन चल रहे थे, वे विवेकानन्द में आकर अपनी चरम सीमा पर पहुँचे। राममोहन, केशव सेन, दयानन्द, राणाडे, एनी बेसेंट, रामकृष्ण एवं अन्य चिन्तकों तथा सुधारकों ने भारत में जो जमीन तैयार की, विवेकानन्द उसमें से अश्वत्थ होकर उठे। अभिनव भारत को जो कुछ कहना था, वह विवेकानन्द के मुख से उद्‌गीर्ण हुआ। अभिनव भारत को जिस दिशा

की ओर जाना था, उसका स्पष्ट संकेत विवेकानन्द ने दिया। विवेकानन्द वह सेतु हैं, जिस पर प्राचीन और नवीन भारत परस्पर आलिंगन करते हैं। विवेकानन्द वह समुद्र हैं जिसमें धर्म और राजनीति, राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता तथा उपनिषद् और विज्ञान, सबके सब समाहित होते हैं। रवीन्द्रनाथ ने कहा है, "यदि कोई भारत को समझना चाहता है तो उसे विवेकानन्द को पढ़ना चाहिए।" अरविन्द का वचन है कि "पश्चिमी जगत् में विवेकानन्द को जो सफलता मिली, वही इस बात का प्रमाण है कि भारत केवल मृत्यु से बचने को नहीं जगा है, वरन् वह विश्व-विजय करके दम लेगा।" और नेताजी सुभाषचन्द्र बोस ने लिखा है कि स्वामी विवेकानन्द का धर्म राष्ट्रीयता को उत्तेजना देनेवाला धर्म था। नयी पीढ़ी के लोगों में उन्होंने भारत के प्रति भक्ति जगायी, उसके अतीत के प्रति गौरव एवं उसके भविष्य के प्रति आस्था उत्पन्न की। उनके उद्गारों से लोगों में आत्म-निर्भरता और स्वाभिमान के भाव जगे हैं। स्वामीजी ने सुस्पष्ट रूप से राजनीति का एक भी सन्देश नहीं दिया, किन्तु जो भी उनके अथवा उनकी रचनाओं के सम्पर्क में आया, उसमें देश-भक्ति और राजनीतिक मानसिकता आपसे आप उत्पन्न हो गयी।

ये सारी प्रशंसाएँ नहीं हैं। इनमें कोई भी अत्युक्ति नहीं है। स्वामीजी धर्म और संस्कृति के नेता थे। राजनीति से उनका कोई सरोकार नहीं था। किन्तु राजनीति तो स्वयं संस्कृति की चेरी है। उसका एक लघु अंग मात्र है। स्वामीजी

ने अपनी वाणी और कर्तृत्व से भारतवासियों में यह अभिमान जगाया कि हम अत्यन्त प्राचीन सभ्यता के उत्तराधिकारी हैं। हमारे धार्मिक ग्रन्थ संसार में सबसे उन्नत और हमारा इतिहास सबसे महान है, हमारी संस्कृत भाषा विश्व की सबसे प्राचीन भाषा और हमारा साहित्य सबसे उन्नत साहित्य है; यही नहीं, प्रत्युत हमारा धर्म ऐसा है जो विज्ञान की कसौटी पर खरा उतरता है और जो विश्व के सभी धर्मों का सार होता हुआ भी उन सबसे कुछ और अधिक है। स्वामीजी के भीतर से हिन्दुओं में यह विश्वास उत्पन्न हुआ कि उन्हें किसी के भी सामने मस्तक झुकाने अथवा लज्जित होने की आवश्यकता नहीं है। भारत में सांस्कृतिक राष्ट्रीयता पहिले उत्पन्न हुई, राजनीतिक राष्ट्रीयता बाद को जन्मी है और इस सांस्कृतिक राष्ट्रीयता के पिता स्वामी विवेकानन्द थे।

सन् १८९३ ई० में शिकागो (अमेरिका) में निखिल विश्व के धर्मों का एक महासम्मेलन हुआ था। स्वामी विवेकानन्द के हृदय में यह भाव उत्पन्न हुआ कि वे इस सम्मेलन में अवश्य जायेंगे और अनेक प्रचण्ड बाधाओं के होते हुए भी वे इस सम्मेलन में सम्मिलित हुए। और हिन्दुत्व एवं भारतवर्ष के लिए यह अच्छा हुआ कि स्वामीजी इस सम्मेलन में जा सके, क्योंकि इस सम्मेलन में हिन्दुत्व के पक्ष में ऐसा ऊँचा प्रचार हुआ जैसा न तो कभी पहिले हुआ था और न उसके बाद से लेकर आज तक हो पाया है। हाँ, गूँज और प्रतिध्वनि की दृष्टि से स्वामीजी की

अमेरिका-यात्रा उतनी ही सफल हुई, जितनी कि पंडित जवाहरलाल की रूस-यात्रा (१६५५ ई०) समझी जाती है।

स्वामीजी के विदेश-गमन के कई उद्देश्य थे। एक तो वे भारतवासियों के इस अन्धविश्वास को तोड़ना चाहते थे कि समुद्र-यात्रा पाप है तथा विदेशियों के हाथ का अन्न और जल ग्रहण करने से जाति चली जाती है। दूसरे भारत के अँगरेजी पढ़े-लिखे लोगों को वे यह भी दिखलाना चाहते थे कि भारतवासी अपना आदर आप भले ही नहीं करें, किन्तु उनके सांस्कृतिक गुरु पश्चिम के लोग भारत से प्रभावित हो सकते हैं। उनका यह अटल विश्वास था कि भारत के आध्यात्मिक विचारों और आदर्शों का प्रचार यदि पश्चिम के उन्नत देशों में किया जाय तो इससे वहाँ के लोग अवश्य प्रभावित होंगे तथा पृथ्वी पर एक नयी कल्पना, एक नये जीवन का सूत्रपात होगा। स्वामी रामकृष्ण ने साधनापूर्वक यह जान लिया था कि विश्व के सभी धर्म एक ही धर्म के विभिन्न अंग हैं एवं सम्पूर्ण विश्व में एक प्रकार की धार्मिक एकता का भाव जगना ही चाहिए। अजब नहीं कि स्वामीजी इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए भी शिकागो के धार्मिक सम्मेलन में जाने को आतुर हो उठे हों।

शिकागो-सम्मेलन में स्वामीजी ने जिस ज्ञान, जिस उदारता, जिस विवेक और जिस वाग्मिता का परिचय दिया, उससे वहाँ के सभी लोग मंत्रमुग्ध और पहले ही दिन से उनके भक्त हो गये। प्रथम दिन तो स्वामीजी को सबसे अन्त में बोलने का अवसर इसलिए दिया गया था कि उनका

कोई समर्थक नहीं था, उन्हें कोई जानता या पहचानता नहीं था। किन्तु उसके बाद सम्मेलन में जो उनके दस-बारह भाषण हुए, वे भाषण भी उन्होंने प्रतिदिन सभा के अन्त में ही दिये क्योंकि सारी जनता उन्हीं का भाषण सुनने को अन्त तक बैठी रहती थी। उनके भाषणों पर टिप्पणी करते हुए 'द न्यूयार्क हेरल्ड' ने लिखा कि 'धर्मों की पार्लमेन्ट में सबसे महान् व्यक्ति विवेकानन्द हैं। उनका भाषण सुन लेने पर अनायास यह प्रश्न उठ खड़ा होता है कि ऐसे ज्ञानी देश को सुधारने के लिए धर्म-प्रचारक भेजने की बात कितनी बेवकूफी की बात है !'

शिकागो-सम्मेलन से उत्साहित होकर स्वामीजी अमेरिका और इंग्लैण्ड में तीन साल तक रह गये और इस अवधि में भाषणों, वार्तालापों, लेखों, कविताओं, विवादों और वक्तव्यों के द्वारा उन्होंने हिन्दू धर्म के सार को सारे यूरोप में फैला दिया। प्रायः डेढ़ सौ वर्षों से ईसाई धर्म-प्रचारक संसार में हिन्दुत्व की जो निन्दा फैला रहे थे, उस पर अकेले स्वामीजी के कर्तृत्व ने रोक लगा दी और जब भारतीयों ने यह सुना कि सारा पश्चिमी जगत् स्वामीजी के मुख से हिन्दुत्व का आख्यान सुनकर गद्‌गद् हो रहा है, तब हिन्दू भी अपने धर्म और संस्कृति के गौरव का अनुभव करने लगे। अंग्रेजी पढ़-कर बहके हुए हिन्दू बुद्धिवादियों को समझाना बहुत ही कठिन कार्य था। किन्तु जब उन्होंने देखा कि स्वयं यूरोप और अमेरिका के नर-नारी स्वामीजी के शिष्य बनकर हिन्दुत्व की सेवा में लगते जा रहे हैं, तब उनके भीतर भी ग्लानि की

भावना जगी और बकवास छोड़कर वे भी स्थिर हो गये। इस प्रकार हिन्दुत्व को लीलने के लिए अंगरेजी भाषा, ईसाई धर्म और यूरोपीय बुद्धिवाद के पेट से जो तूफान उठा था, वह स्वामी विवेकानन्द के हिमालय-जैसे विशाल वक्ष से टकराकर लौट गया। हिन्दू जाति का धर्म है, जब तक वह जीवित रहे, विवेकानन्द की याद उसी श्रद्धा से करती जाय जिस श्रद्धा से वह व्यास और वाल्मीकि की याद करती है।

स्वामीजी की व्यावहारिकता यह थी कि यूरोप तथा अमेरिका को उन्होंने संयम और त्याग का महत्व समझाया था, किन्तु भारतवासियों का ध्यान उन्होंने भारतीय समाज की आर्थिक दुरवस्था की ओर आकृष्ट किया एवं धर्म को उनके सामने ऐसा बनाकर रखा, जिससे मनुष्य की आधिभौतिक उन्नति में कोई बाधा नहीं पड़े। अमेरिका की उच्छल जीवनी-शक्ति, वहाँ की स्वच्छता, वहाँ का संगठन, वहाँ की सौन्दर्य-भावना और वहाँ के वैज्ञानिक साधनों का उपयोग, ये बातें स्वामीजी को बहुत पसन्द आयी थीं, किन्तु यूरोपीय सभ्यता के जो दोष हैं, वे भी उनकी आंखों से ओझल नहीं रहे। बोस्टन में दिये गये अपने एक भाषण में स्वामीजी ने इन दोषों का ऐसा पर्दाफाश किया कि वहाँ की जनता उनसे रुष्ट हो गयी। फिर भी, स्वामीजी ने अमरीकी और यूरोपीय लोगों को उनकी सभ्यता का दोष दिखाना बन्द नहीं किया। यूरोप और अमेरिका में जो जातीय अहंकार है, स्वार्थ-साधन और विलासिता के लिए जो पारस्परिक होड़ है, धर्म और संस्कृति के मामले में वहाँ जो भयानक असहिष्णुता है,

गरीबों के आर्थिक शोषण का जो विकराल भाव तथा राजनीतिक चालबाजियाँ और हिंसा के जो उद्वेग हैं, उन्हें स्वामीजी यूरोपीय सभ्यता के पाप कहते थे और पश्चिमी देशों के श्रोताओं के सामने वे इनका खुलकर उल्लेख करते थे। व्यक्ति और समाज, दोनों की रक्षा और शान्ति के लिए स्वामीजी धर्म को आवश्यक मानते थे, अतएव यूरोप को धर्म से विमुख होते देखकर उन्हें चिन्ता हुई। उनका विचार था कि धर्म-हीन सभ्यता निरी पशुता का उज्जवल रूप है तथा उसका विनाश उसी प्रकार अवश्यम्भावी है जैसे अतीत के अनेक साम्राज्य विनष्ट हुए हैं। उन्होंने कई बार यह चेतावनी दी कि आध्यात्मिकता को अनादृत करके यूरोप उस ज्वालामुखी के मुख पर बैठ गया है जो किसी भी क्षण विस्फोट कर सकता है।

रूढ़ियों, आडम्बरों और बाह्याचारों से ऊपर उठकर स्वामीजी ने धर्म की विलक्षण व्याख्या प्रस्तुत की। "धर्म मनुष्य के भीतर निहित देवत्व का विकास है।" "धर्म न तो पुस्तकों में है, न धार्मिक सिद्धान्तों में। वह केवल अनुभूति में निवास करता है।" "धर्म अन्धविश्वास नहीं है, धर्म अलौकिकता में नहीं है, वह जीवन का अत्यन्त स्वाभाविक तत्त्व है।" मनुष्य में पूर्णता की इच्छा है, अनन्त जीवन की कामना है, ज्ञान और आनन्द प्राप्त करने की चाह है। पूर्णता ज्ञान और आनन्द, ये निचले स्तर पर नहीं हैं, उनकी खोज जीवन के उच्च स्तर पर की जानी चाहिए। जहाँ ऊँचा स्तर आता है वहीं धर्म का आरम्भ होता है। 'जीवन का स्तर जहाँ

हीन है, इन्द्रियों का आनन्द वहीं अत्यन्त प्रखर होता है। खाने में जो उत्साह भेड़िये और कुत्ते दिखाते हैं, वह उत्साह मनुष्य में भोजन के समय नहीं दिखाई देता। कुत्तों और भेड़ियों का सारा आनन्द उनकी इन्द्रियों में केन्द्रित होता है। इसी प्रकार, सभी देशों के निचले स्तर के मनुष्य इन्द्रियों के आनन्द में अत्यन्त उत्साह दिखाते हैं। किन्तु जो सच्चे अर्थों में शिक्षित और सुसंस्कृत व्यक्ति हैं, उनके आनन्द का आधार विचार और कला होता है, दर्शन और विज्ञान होता है। किन्तु आध्यात्मिकता तो और भी ऊँचे स्तर की चीज है, अतएव इस स्तर का आनन्द भी अत्यन्त सूक्ष्म और प्रचुर होता है।" यूरोप और अमेरिका के निवासियों पर स्वामीजी ने यह प्रभाव डालना चाहा कि व्यक्ति अथवा समूह के जीवन की सफलता उसकी आधिभौतिक समृद्धि अथवा बौद्धिक उपलब्धियों पर निर्भर नहीं करके आध्यात्मिक उन्नति पर निर्भर करती है। अतएव मनुष्य को चाहिए कि पहिले वह पवित्रता, भक्ति, विनयशीलता, सचाई, निःस्वार्थता और प्रेम का विकास करे तथा बाद को अन्य गुणों का।

यूरोप और अमेरिका में भोग की सामग्रियाँ प्रचुर परिमाण में उपलब्ध थीं। इसलिए स्वामीजी ने वहाँ के निवासियों को संयम और त्याग की शिक्षा दी। किन्तु भारत में दरिद्रता का साम्राज्य था, निर्धनता का नग्न वास था एवं यहाँ के लोग धनाभाव के कारण भी जीवन के ऊँचे गुणों से वियुक्त हो गये थे। अतएव, भारतवासियों को उन्होंने जो उपदेश दिया वह केवल धर्म के लिए नहीं था, प्रत्युत उन्होंने

यहाँ के लोगों में असन्तोष जगाना चाहा, उन्हें कर्मकी भावना से आन्दोलित करने की चेष्टा की तथा शताब्दियों से आती हुई निवृत्ति की विषैली जंजीरों से मुक्त करके उन्होंने भारतवासियों को प्रवृत्ति के कर्म-मार्ग पर आरूढ़ करने का प्रयास किया। शिकागो के विश्व-धर्म-सम्मेलन में भी स्वामीजी ने ईसाइयों के समक्ष निर्भीक गर्जना की थी, "तुम ईसाई लोग मूर्ति-पूजकों की आत्मा के बचाव के लिए भारत में धर्म–प्रचारक भेजने को बहुत ही आतुर दिखते हो. किन्तु इन मूर्ति-पूजकों के शरीर को क्षुधा की ज्वाला से बचाने के लिए तुम क्या कर रहे हो ? भयानक दुर्भिक्षों के समय लाखों भारतवासी निराहार मर गये, किन्तु तुम ईसाइयों से कुछ भी नहीं बन पड़ा। भारत की भूमि पर तुम गिरजों पर गिरजे बनवाते जा रहे हो, किन्तु तुम्हें यह ज्ञान नहीं है कि पूर्वीय जगत् की व्याकुल आवश्यकता रोटी है, धर्म नहीं। धर्म एशियावालों के पास अब भी बहुत है। वे दूसरों से धर्म का पाठ नहीं पढ़ना चाहते। जो जाति भूख से तड़प रही है, उसके आगे धर्म परोसना, उसका अपमान है। जो जाति रोटी को तरस रही है, उसके हाथ में दर्शन और धर्म-ग्रन्थ रखना उसका मजाक उड़ाना है।"

कहते हैं, एक बार कोई नवयुवक स्वामीजी के पास गया और उनसे बोला, "स्वामीजी, मुझे गीता समझा दीजिए।" स्वामीजी ने सच्चे मन से कहा, "गीता समझने का वास्तविक स्थान फुटबाल का मैदान है। जाओ, घंटे भर खेल–कूद लो। गीता तुम स्वयं समझ जाओगे।"

स्वामी विवेकानन्द संसार में घूमकर देख चुके थे कि नयी मानवता कितनी उच्छल और बलवती है। उसकी तुलना में भारत के लोग उन्हें बौने और बीमार दिखायी दिये। अतएव, भारत में उनके अधिकांश उपदेश शारीरिक उन्नति, साहस, सेवा और कर्म की महत्ता सिद्ध करने को दिये गये। भारतवर्ष को वे क्षीण और कोमल-वपु संन्यासियों का देश बनाना नहीं चाहते थे। न उनका यही उद्देश्य था कि यहाँ के लोग शाक-भोजी होकर धर्म की साधना करते हुए निर्धनता और गुलामी का दंश सहते हुए मौन रहें। अपने एक शिष्य द्वारा यह पूछे जाने पर कि संन्यासियों को मांस-मछली खानी चाहिए या नहीं, स्वामीजी ने कहा, "हां, निन्दा का भय माने बिना मांस मछली तुम जी भर खा सकते हो। शाक-पात खाकर जीनेवाले आमाशय के रोगी साधुओं से सारा देश भर गया है। ये लक्षण सत्त्व के नहीं, भयानक तमस के हैं और तमस मृत्यु की कालिमा का नाम है। आकृति में दमकती हुई कान्ति, हृदय में अदम्य उत्साह, कर्म-चेष्टा की विपुलता और उद्वेलित शक्ति, ये सत्त्व की पहचान हैं। इसके विपरीत तमस का लक्षण आलस्य और शैथिल्य है, अनुचित आसक्ति और निद्रा का मोह है। कौन भोजन शुद्ध और कौन अशुद्ध है, क्या इसी विचिकित्सा में जीवन बिता दोगे अथवा इन्द्रिय-निग्रह का भी कुछ ध्यान है? हमारा लक्ष्य इन्द्रियों का निग्रह है, मन को वश में लाना है। अच्छे और बुरे का भेद, शुद्ध और अशुद्ध का विचार इन्द्रिय-निग्रह नहीं, उस ध्येय के सहायक मात्र हैं।"

स्वामीजी बार-बार कहा करते थे कि भारत का कल्याण शक्ति की साधना में है। जन-जन में जो शक्ति छिपी हुई है, हमें उसे साकार करना है। जन-जन में जो साहस और जो विवेक प्रच्छन्न है, हमें उसे बाहर लाना है। "मैं भारत में लोहे की मांस-पेशियाँ और फौलाद की नाड़ी तथा धमनी देखना चाहता हूँ, क्योंकि इन्हीं के भीतर वह मन निवास करता है जो शंपाओं एवं वज्रों से निर्मित होता है। शक्ति, पौरुष, क्षात्र-वीर्य और ब्रह्म-तेज इनके समन्वय से भारत की नयी मानवता का निर्माण होना चाहिए।" "मृत्यु का ध्यान करो, प्रलय को अपनी समाधि में देखो तथा महा भैरव रुद्र को अपनी पूजा से प्रसन्न करो। जो भयानक है, उसकी अर्चना से ही भय बस में आयेगा।...सम्भव हो तो जीवन को छोड़कर मृत्यु की कामना करो। तलवार की धार पर अपना शरीर लगा दो और रुद्र शिव से एकाकार हो जाओ।"

संस्कृति का ध्यान करते-करते भारत का स्वाभिमान जग चुका था। अब दूसरा सोपान उसकी वीरता, निर्भयता और बलिदान की भावना को जाग्रत् करना था। स्वामीजी ने वीरता, बलिदान और निर्भयता की शिक्षाएँ भी धर्म से निकालीं एवं रुद्रशिव तथा महाकाली को लोगों का आराध्य बना दिया। स्वामीजी की अहिंसा और वैराग्य-भावना में भी क्षात्र-धर्म का स्पर्श था। जिन विचारों,जिन धर्मों और आचारों से कायरता की वृद्धि एवं पौरुष का दलन होता है, स्वामीजी उनके अत्यन्त विरुद्ध थे। इसीलिए, बुद्ध की अहिंसा की स्वामीजी ने कभी भी खुलकर प्रसंशा नहीं की, बल्कि एक

बार तो उन्होंने कह भी दिया कि बुद्ध की शिक्षाओं के पीछे "भयानक दुर्बलता की छाया विद्यमान है।" स्वामीजी न तो धर्म-युद्ध के प्रेमी थे, न उनकी यही सम्मति थी कि क्रोध के प्रत्येक उफान पर मनुष्य को तलवार लेकर दौड़ना ही चाहिए। किन्तु हिंसा को कदाचित् वे सभी स्थितियों में त्याज्य नहीं मानते थे। एक बार उनसे किसी भक्त ने पूछा कि "महाराज, कोई शक्तिशाली व्यक्ति यदि किसी दुर्बल का गला टीप रहा हो, तो हमें क्या करना चाहिए?" स्वामीजी ने तड़ाक से उत्तर दिया, "क्यों? बदले में उस शक्तिशाली की गर्दन टीप दो। क्षमा भी कमजोर होने पर अक्षम्य है, असत्य और अधर्म है। युद्ध उससे उत्तम धर्म है। क्षमा तभी करनी चाहिए जबकि तुम्हारी भुजा में विजय-शक्ति वर्तमान हो।"

आधिभौतिकता ने भारत के सामने जो चुनौती रखी थी, उसका भी समीचीन उत्तर विवेकानन्द ने दिया। वे उस प्रकार के सुधारक और संत थे जिनकी अनुभूति में पुराने धर्म नवीन रूप ग्रहण करते हैं। प्राचीन दर्शन की परतें छूटकर गिर जाती हैं और जंग लगे विचार धुलकर चमकने लगते हैं। वे इस बात को कब बर्दाश्त कर सकते थे कि परम्पराएँ भारतवासियों की उन्नति का मार्ग रोकें, अथवा धर्म उन्हें निर्धन और गुलाम रहने को लाचार करे? उपनिषदों का उपदेश है कि सभी आत्माएँ एक हैं क्योंकि वे सब की सब एक ही परब्रह्म के असंख्य प्रतिबिम्ब मात्र हैं। इस सिद्धान्त से स्वामीजी ने यह निष्कर्ष निकाला कि जिसे परब्रह्म कहते हैं वह सभी जीवों के योग से अधिक नहीं है। अतएव,

सच्ची ईशोपासना यह है कि हम अपने मानव-बन्धुओं की सेवा में अपने आप को लगा दें। जब पड़ोसी भूखा मरता हो, तब मंदिर में भोग चढ़ाना पुण्य नहीं, पाप है। जब मनुष्य दुर्बल और क्षीण हो तब हवन में घृत जलाना अमानुषिक कर्म है। "संसार के अगणित नर-नारियों में परमात्मा भासमान है।" तथा "मेरे जीवन का परम ध्येय उस ईश्वर के विरुद्ध संघर्ष करना है जो परलोक में आनन्द देने के बहाने इस लोक में मुझे रोटियों से वंचित रखता है, जो विधवाओं के आँसू पोंछने में असमर्थ है, जो माँ-बाप से हीन बच्चे के मुख में रोटी का टुकड़ा नहीं दे सकता।" केष्टा नामक संथाल को भोजन कराके उन्होंने कहा, था "तुम साक्षात् नारायण हो। आज मुझे संतोष है कि भगवान् ने मेरे समक्ष भोजन किया।" वे कहते थे, "वास्तविक शिव की पूजा निर्धन और दरिद्र की पूजा है, रोगी और कमजोर की पूजा है।" निर्धनता, पुरोहितवाद और धार्मिक अत्याचार सिखानेवाले दर्शनों के स्वामीजी प्रचण्ड विरोधी थे। इसी प्रकार, धनियों के प्रति भी उनमें आदर का भाव नहीं था। "भारत की एकमात्र आशा उसकी जनता है। ऊँची श्रेणी के लोग तो शरीर और नैतिकता, दोनों ही दृष्टियों से मर चुके हैं।"

स्वामीजी स्वयं संन्यासी थे। संन्यासियों का एक वृहत् मठ भी उन्होंने ही खड़ा किया एवं समाज-सेवी युवकों को वे अविवाहित रहने का उपदेश देते थे। किन्तु गृहस्थों को वे हीन नहीं मानते थे। उल्टे, उनका विचार था कि गृहस्थ भी

ऊँचा और संन्यासी भी नीचा हो सकता है। "मैं संन्यासी और गृहस्थ में कोई भेद नहीं करता। संन्यासी हो या गृहस्थ, जिसमें भी मुझे महत्ता, हृदय की विशालता और चरित्र की पवित्रता के दर्शन होते हैं, मेरा मस्तक उसी के सामने झुक जाता है।"

नारियों के प्रति उनमें असीम उदारता का भाव था। वे कहते थे, "ईसा अपूर्ण थे, क्योंकि जिन बातों में उनका विश्वास था, उन्हें वे अपने जीवन में नहीं उतार सके। उनकी अपूर्णता का सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि उन्होंने नारियों को नरों के समकक्ष नहीं माना। असल में उन्हें यहूदी संस्कार जकड़े हुए था, इसीलिए वे किसी भी नारी को अपनी शिष्या नहीं बना सके। इस मामले में बुद्ध उनसे श्रेष्ठ थे क्योंकि उन्होंने नारियों को भी भिक्षुणी होने का अधिकार दिया।" एक बार उनके एक शिष्य ने पूछा, "महाराज! बौद्ध मठों में भिक्षुणियाँ बहुत रहती थीं। इसीलिए तो देश में अनाचार फैल गया।" स्वामीजी ने इस आलोचना का उत्तर नहीं दिया, किन्तु वे बोले, "पता नहीं, इस देश में नारियों और नरों में इतना भेद क्यों किया जाता है। वेदान्त तो यही सिखाता है कि सबमें एक ही आत्मा का वास है। तुम लोग नारियों की सदैव निन्दा ही करते रहते हो; किन्तु कह सकते हो कि उनकी उन्नति के लिए अब तक तुमने क्या किया है? स्मृतियाँ रचकर तथा गुलामी की कड़ियाँ गढ़कर पुरुषों ने नारियों को बच्चा जनने की मशीन बनाकर छोड़ दिया। नारियाँ महाकाली की साकार प्रतिमाएँ

हैं। यदि तुमने इन्हें ऊपर नहीं उठाया तो यह मत सोचो कि तुम्हारी अपनी उन्नति का कोई अन्य मार्ग है।...संसार की सभी जातियाँ नारियों का समुचित सम्मान करके ही महान् हुई हैं। जो जाति नारियों का सम्मान करना नहीं जानती, वह न तो अतीत में उन्नति कर सकी, न आगे उन्नति कर सकेगी।"

स्वामीजी हिन्दुत्व की शुद्धि के लिए उठे थे तथा उनका प्रधान क्षेत्र धर्म था, किन्तु धर्म और संस्कृति ये परस्पर एक दूसरे का स्पर्श करते चलते हैं। भारतवर्ष में राष्ट्रीय पतन के कई कारण आर्थिक और राजनीतिक थे। किन्तु बहुत से कारण ऐसे भी थे जिनका धर्म से सम्बन्ध था। अतएव स्वामी विवेकानन्द ने धर्म का परिष्कार भारतीय समाज की आवश्यकताओं को दृष्टिगत रखकर करना आरम्भ किया और इस प्रक्रिया में उन्होंने कड़ी-से-कड़ी बातें भी बड़ी ही निर्भीकता से कह दीं। "शक्ति का उपयोग केवल कल्याण के निमित्त होना चाहिए। जब उससे पाप का समर्थन किया जाता है, तब वह गर्हित हो जाती है। युगों से ब्राह्मण भारतीय संस्कृति का थातीदार रहा है। अब उसे इस संस्कृति को सबके पास विकीर्ण कर देना चाहिए। उसने इस संस्कृति को जनता में जाने से रोक रखा, इसीलिए भारत पर मुसलमानों का आक्रमण संभाव्य हो सका। ब्राह्मण ने संस्कृति के भंडार पर ताला लगा रखा, जन-साधारण को उसमें से कुछ भी लेने नहीं दिया, इसीलिए हजारों साल तक जो भी जातियाँ भारत आ पड़ीं, हम उनके

गुलाम होते गये । हमारे पतन का कारण ब्राह्मण की अनुदारता रही है। भारत के पास जो भी सांस्कृतिक कोष है, उसे जन-साधारण के कब्जे में जाने दो। और चूँकि ब्राह्मण ने यह पाप किया था, इसलिए प्रार्याश्चत भी सबसे पहले उसी को करना है। साँप का काटा हुआ आदमी जी उठता है, यदि वही साँप आकर फिर से अपना जहर चूस ले। भारतीय समाज को ब्राह्मण-रूपी सर्प ने डसा है। यदि ब्राह्मण अपना विष वापस ले ले तो यह समाज अवश्य जी उठेगा।"

ऊँची और तथाकथित नीची जातियों के बीच सामाजिक पद-प्रतिष्ठा को लेकर जो संघर्ष है, स्वामीजी ने उससे पैदा होनेवाले खतरों पर भी विचार किया था। इस सम्बन्ध में उनका समाधान यह था कि यदि ब्राह्मण कहलाने से सभी जातियों को संतोष होता है तो उचित है कि वे अपनी-अपनी सभाओं में यह घोषणा कर दें कि हम ब्राह्मण हैं। इससे भारत को बहुत बड़ी शक्ति प्राप्त होगी। एक तो देश में जातियों का भेद आप से आप समाप्त हो जायगा, दूसरे सभी वर्ण के लोग ब्राह्मण-संस्कृति को स्वीकार करके आज के सांस्कृतिक धरातल से स्वयमेव ऊपर उठ जायेंगे। हाँ, स्वामीजी का यह भी विचार था कि रुपये चाहे जिस विद्या से भी प्राप्त हो जायँ, किन्तु सामाजिक प्रतिष्ठा भारतवर्ष में अब भी संस्कृत भाषा के ज्ञान से मिलती है। अतएव, जो भी भारतवासी ब्राह्मण की प्रतिष्ठावाला पद प्राप्त करना चाहता है, उसे संस्कृत में दक्षता अवश्य प्राप्त करनी चाहिए।

भारतीय एकता का महत्त्व स्वामीजी ने जनता के समक्ष

अत्यन्त सुस्पष्ट रूप में रखा। "अथर्ववेद में एक मंत्र है जिसका अर्थ होता है कि मन से एक बनो, विचार से एक बनो। प्राचीन काल में देवताओं का मन एक हुआ, तभी से वे नैवेद्य के अधिकारी रहे हैं। मनुष्य देवताओं की अर्चना इसलिए करते हैं कि देवताओं का मन एक है। मन से एक होना समाज के अस्तित्व का सार है। किन्तु द्रविड़ और आर्य, ब्राह्मण और अब्राह्मण, इन तुच्छ विवादों में पड़कर तुम जितना ही झगड़ते जाओगे, तुम्हारी शक्ति उतनी ही क्षीण होती जायेगी। तुम्हारा संकल्प एकता से उतना ही दूर पड़ता जायेगा। स्मरण रखो की शक्ति-संचय और संकल्प की एकता, इन्हीं पर भारत का भविष्य निर्भर करता है। जब तक महान् कार्यों के लिए तुम अपनी शक्तियों का संचय नहीं करते; जब तक एक मन होकर तुम आत्मोद्धार के कार्य में नहीं लगते, तब तक तुम्हारा कल्याण नहीं होगा। प्रत्येक चीनी अपने ही ढंग पर सोचता है, किन्तु मुट्ठी भर जापानियों का मन एक है। इसके जो परिणाम निकले हैं; उन्हें तुम भली-भाँति जानते हो। विश्व के समग्र इतिहास में यही होता आया है।" व्यावहारिक नेता के समान स्वामीजी ने भारतीयों के चरित्र के एक भीषण दोष पर अपनी उँगली रखी और काफी जोर देकर कहा कि "हमारे देशवासियों में से कोई व्यक्ति जब ऊपर उठने की चेष्टा करता है, तब हम सब लोग उसे नीचे घसीटना चाहते हैं, किन्तु यदि कोई विदेशी आकर हमें ठोकर मारता है, तो हम समझते हैं, यह ठीक है। हमें इन तुच्छताओं की आदत पड़ गयी है। लेकिन अब

गुलामों को अपना मालिक आप बनना है। इसलिए दास-भावना को छोड़ दो। अगले पचास वर्षों तक भारतमाता को छोड़कर हमें और किसी का ध्यान नहीं करना है। भारत-माता को छोड़कर और सभी देवता झूठे हैं। उन्हें अपने मन से निकालकर फेंक दो। यही देवी, यही हमारी जाति वास्तविक देवी है। सर्वत्र उसके हाथ दिखाई पड़ते हैं, सर्वत्र उसके पाँव विराजमान हैं, सर्वत्र उसके कान हैं और सब कुछ पर उसी देवी का प्रतिबिम्ब छाया हुआ है। बाकी जितने देवता हैं, नींद में हैं। यह विराट् देवता हमारे सामने प्रत्यक्ष हैं। इसे छोड़कर हम और किस देवता की पूजा करेंगे ?"

धर्म-साधना के लोभ में जीवन से भागकर गुफा में नाक-कान दबाकर प्राणायाम करने की परम्परा की भारत में बड़ी महिमा थी। स्वामी विवेकानन्द ने इस परम्परा की महिमा एक झटके में उड़ा दी। "आधा मील की खाई तो हमसे पार नहीं की जाती, मगर, हनुमान के समान हम समग्र सिन्धु को लाँघ जाना चाहते हैं! यह होनेवाली बात नहीं है। हर आदमी योगी बने, हर आदमी समाधि में चला जाय यह गलत बात है। यह असम्भव है, यह अकरणीय है। दिन भर कर्म-संकुल विश्व के साथ मिलन और संघर्ष, तथा संध्या समय बैठकर प्राणायाम! क्या यह इतना सरल कार्य है ? तुमने तीन बार नाक बजायी है, तीन बार नासिका से भीतर की वायु को बाहर किया है, तो क्या इतने से ही ऋषिगण आकाश से होकर तुम्हारे पास चले आयेंगे ? क्या यह भी कोई मजाक है ? ये सारी बेवकूफी की बातें हैं। जिस चीज

की जरूरत है वह है चित्त-शुद्धि। और चित्त-शुद्धि कैसे होगी? सबसे पहिले पूजा विराट् की होनी चाहिए, उन असंख्य मानवों की जो तुम्हारे चारों ओर फैले हुए हैं। संसार में जितने भी मनुष्य और जीव-जन्तु हैं, सभी परमात्मा हैं, सभी परब्रह्म के रूप हैं। और इनमें भी सर्वप्रथम हमें अपने देशवासियों की पूजा करनी चाहिए। आपस में ईर्ष्या-द्वेष रखने के बदले, आपस में झगड़ा और विवाद करने के बदले तुम परस्पर एक दूसरे की अर्चना करो, एक दूसरे से प्रेम रखो। हम जानते हैं कि किन कर्मों ने हमारा सर्वनाश किया, किन्तु फिर भी हमारी आँखें नहीं खुलतीं!"

गाँधी, रवीन्द्रनाथ, राधाकृष्णन और जवाहरलाल में हम इस आशा को गतिशील पाते हैं कि भारत के पास जो संदेश है, भारत के पास जो दीर्घकालीन अनुभव है, उससे सारे विश्व का कल्याण हो सकता है। एशिया साधनहीन और दुखी, किन्तु यूरोप समृद्ध एवं असंतुष्ट है। एशिया उच्च जीवन की कामना लिये अनेक दुर्गतियों को झेलता आ रहा है। यूरोप ने दुर्गतियों पर तो विजय प्राप्त कर ली, किन्तु उच्च जीवन की राह उसे, मानो, मिली ही नहीं। विश्व का कल्याण इसमें है कि एशिया यूरोप की आधिभौतिकता को ग्रहण करे और इस प्रकार ग्रहण करे कि उसकी मानसिकता को आँच नहीं आये। इसी प्रकार यूरोप के दुर्दान्त शरीर के भीतर जो आत्मा सोती जा रही है, उसे जगकर सचेष्ट होना चाहिए। यूरोप का यह आत्मिक जागरण एशिया की संगति से आयेगा। स्वामीजी की दृष्टि इस आवश्यकता पर भी पड़ी

थी और जब सारा भारतवर्ष यूरोप के चाकचिक्य से मोहित हो रहा था, तब उन्होंने घोषणा की कि "जीवन का धर्म आदान-प्रदान है। क्या यह अच्छा होगा कि हम सदैव पश्चिमवालों के चरणों के पास बैठकर सब कुछ, यहाँ तक कि धर्म भी, सीखते रहें! क्या हम केवल लेते ही रहेंगे? देना हमें कुछ भी नहीं है? पश्चिम से हम यंत्रवाद की शिक्षा ले सकते हैं। और भी कई बातें अच्छी हैं, जिन्हें पश्चिम से ग्रहण करना आवश्यक दीखता है। किन्तु हमें उन्हें कुछ सिखाना भी है। हम उन्हें धर्म और आध्यात्मिकता की शिक्षा दे सकते हैं। विश्व सभ्यता अभी अधूरी है। पूर्ण होने के लिए वह भारत की राह देख रही है। वह भारत की उस आध्यात्मिक सम्पत्ति की प्रतीक्षा में है, जो पतन, गंदगी और भ्रष्टाचार के होते हुए भी भारत के हृदय में जीवित और अक्षुण्ण है।...इसलिए संकीर्णता को छोड़कर हमें बाहर निकलना है। पश्चिम वालों से हमें एक विनिमय करना है। धर्म और आध्यात्मिकता के स्तर की चीजें हम उन्हें देंगे और बदले में भौतिक साधनों का दान हम सहर्ष स्वीकार करेंगे। समानता के बिना मैत्री सम्भव नहीं होती और समानता वहाँ आयेगी कहाँ से, जहाँ एक तो बराबर गुरु बना रहना चाहता है और दूसरा उसका सनातन शिष्य?"

हिन्दुत्व का प्रबल समर्थक होने पर भी स्वामी विवेकानन्द में इस्लाम के प्रति कोई द्वेष नहीं था। उनके गुरु परमहंस रामकृष्ण ने तो छः महीनों तक विधिवत् मुसलमान होकर इस्लाम की साधना भी की थी। इस संस्कार के कारण

इस्लाम के प्रति उनका दृष्टिकोण यथेष्ट रूप से उदार था। उन्होंने कहा है कि "यह तो कर्म का फल था कि भारत को दूसरी जातियों ने गुलाम बनाया। किन्तु भारत ने भी अपने विजेताओं में से प्रत्येक पर सांस्कृतिक विजय प्राप्त की। मुसलमान इस प्रक्रिया के अपवाद नहीं हैं। शिक्षित मुसलमान प्रायः सूफी होते हैं, जिनके विश्वास हिन्दुओं के विश्वास से भिन्न नहीं होते। इस्लामी संस्कृति के भीतर भी हिन्दू विचार प्रविष्ट हो गये हैं। विख्यात मुगल सम्राट् अकबर हिन्दुत्व के काफी समीप था। यही नहीं, प्रत्युत काल-क्रम में इंग्लैण्ड पर भी भारत का प्रभाव पड़ेगा।"

सिस्टर निवेदिता की पुस्तक (माइ मास्टर) में इस बात का उल्लेख है कि एक बार स्वामीजी तीन-चार दिनों की एकान्त समाधि से लौटकर निवेदिता से बोले, "मेरे मन में यह सोचकर बराबर क्षोभ उठता था कि मुसलमानों ने हिन्दुओं के मंदिरों को क्यों तोड़ा, उनके देवी-देवताओं की मूर्तियों को क्यों भ्रष्ट किया। किन्तु आज माता ने (काली ने) मेरे मन को आश्वस्त कर दिया। उन्होंने मुझसे कहा, 'अपनी मूर्तियों को मैं कायम रखूँ या तुड़वा दूँ, यह मेरी इच्छा है। इन बातों पर सोच-सोचकर तू क्यों दुखी होता है'?"

इस्लाम और हिन्दुत्व के मिलन का महत्त्व स्वामीजी ने एक और उच्च स्तर पर बतलाया है। सामान्यतः, वेदान्त ज्ञान का विषय समझा जाता है, जिसमें त्याग और वैराग्य की बातें अनिवार्य रूप से आ जाती हैं, किन्तु इस्लाम, मुख्यतः, भक्ति का मार्ग है तथा हजरत मोहम्मद का पन्थ

देह-दंडन, संन्यास और वैराग्य को महत्त्व नहीं देता। किन्तु स्वामी विवेकानन्द की व्याख्या का वेदान्त निवृत्ति से मुक्त शुद्ध प्रवृत्ति का मार्ग था एवं तात्त्विक दृष्टि से इस्लाम के प्रवृत्ति-मार्ग से उसका कोई विरोध नहीं रह गया था। इसलिए स्वामीजी की कल्पना थी कि इस्लाम की व्यावहारिकता को आत्मसात् किये बिना वेदान्त के सिद्धान्त जनता के लिए उपयोगी नहीं हो सकते। सन् १८९८ ई० में उन्होंने एक चिट्ठी में यह भी लिखा था कि "हमारी जन्मभूमि का कल्याण तो इसमें है कि उसके दो धर्म, हिन्दुत्व और इस्लाम, मिलकर एक हो जायँ। वेदान्ती मस्तिष्क और इस्लामी शरीर के संयोग से जो धर्म खड़ा होगा, वही भारत की आशा है।" भारत में विश्व-धर्म, विश्व-बन्धुत्व और विश्ववाद की भावना का आरम्भ राममोहन राय की अनुभूतियों में हुआ था एवं उन्होंने हिन्दू धर्म की जो व्याख्या प्रस्तुत की, वह विश्व-धर्म की भूमिका से तनिक भी कम नहीं थी। मुक्त चिन्तन, वैयक्तिक स्वातंत्र्य और प्रत्येक प्रकार का विश्वास रखकर भी धर्म-च्युत नहीं होने की योग्यता, हिन्दू धर्म के ये पुराने लक्षण रहे हैं। हिन्दू नास्तिक भी रहा है और आस्तिक भी, साकारवादी भी रहा है और निराकारवादी भी, उसने महावीर का भी आदर किया है और बुद्ध का भी; उसने वेदों को अपौरुषेय भी माना है और सादि भी। विश्वासों में यह जो प्रचण्ड भिन्नता है, उससे हिन्दू का हिन्दुत्व दूषित नहीं होता। हिन्दू जन्म से ही उदार होता है एवं किसी एक विचार पर सभी को लाठी से हाँककर पहुँचाने में वह

विश्वास नहीं करता। जब थियोसोफिस्ट लोग हिन्दुत्व का प्रचार करने लगे तब हिन्दुत्व का यह सार्वभौम पक्ष कुछ और विकसित हो गया। और रामकृष्ण ने तो बारी बारी से मुसलमान और क्रिस्तान होकर इस सत्य पर अपनी अनुभूति की मुहर लगा दी कि संसार के सभी धर्म एक हैं, उनके बीच किसी प्रकार का भेद-भाव मानना नितान्त अज्ञता की बात है। स्वामी विवेकानन्द ने हिन्दुत्व के सार्वभौम रूप का और भी व्यापक विस्तार किया। संसार में जो अनेक धर्म फैले हुए हैं, उनकी अनिवार्यता बताते हुए उन्होंने कहा कि मनुष्य सर्वत्र अन्न ही खाता है, किन्तु देश-देश में अन्न से भोजन तैयार करने की विधियाँ अनेक हैं। इसी प्रकार धर्म मनुष्य की आत्मा का भोजन है एवं देश-देश में उसके भी अनेक रूप हैं।

संसार के धर्मों में एकता कैसे लायी जाय, इसका समाधान नहीं मिलता। प्राचीन काल में अनेक लोग यह मानते थे कि जो धर्म सबसे अच्छा हो, संसार भर के मनुष्यों को उसी धर्म में दीक्षित हो जाना चाहिए। इसका परिणाम यह हुआ कि प्रत्येक धर्म के लोग अपने ही धर्म का व्यापक प्रचार करने लगे, जिनमें से इस्लाम और ईसाइयत के प्रचारकों ने सबसे अधिक उत्साह दिखलाया। शिकागो में जो विश्व-धर्म-सम्मेलन हुआ था, उसका भी एक आशय यह था कि संसार में सर्वोत्तम धर्म कौनसा है, इसका निर्णय कर लिया जाय। किन्तु उस सम्मेलन में स्वामीजी ने अपना जो विचार रखा, उससे सभी प्रतिनिधि चमत्कृत हो उठे। उन्होंने कहा कि "धार्मिक एकता कैसे हो, इस बात की यहाँ

काफी विचिकित्सा हुई है। इस सम्बन्ध में मेरा जो अपना मतवाद है, उसे प्रस्तुत करने का साहस मैं नहीं करूंगा। किन्तु इतना कहना आवश्यक है कि यदि कोई व्यक्ति यह समझता हो कि धार्मिक एकता का मार्ग एक धर्म की विजय और बाकी का विनाश है; तो मैं उससे निवेदन करूँगा, कि बन्धु! तुम्हारी आशा पूरी नहीं होगी।" "क्या मैं यह चाहता हूँ कि सभी ईसाई हिन्दू हो जायँ? भगवान करे कि ऐसा नहीं हो। क्या मैं यह चाहता हूँ कि सभी हिन्दू और बौद्ध ईसाई हो जायँ? ईश्वर न करे कि ऐसा हो।...ईसाई को हिन्दू या बौद्ध तथा हिन्दू और बौद्ध को ईसाई नहीं होना है। किन्तु इनमें से प्रत्येक का कर्तव्य है कि वह अन्य धर्मों का सार अपने भीतर पचा ले और अपनी वैयक्तिकता की पूर्ण रूप से रक्षा करते हुए उन नियमों के अनुसार अपना विकास खोजे, जो उसके अपने नियम रहे हैं।" अन्यत्र उन्होंने कहा है, "आत्मा की भाषा एक है, किन्तु जातियों की भाषाएँ अनेक होती हैं। धर्म आत्मा की वाणी है। वही वाणी अनेक जातियों की विविध भाषाओं तथा रीति-रिवाजों में अभिव्यक्त हो रही है।"

धर्म को स्वामीजी व्यक्ति और समाज दोनों के लिए उपयोगी मानते थे। धर्म के विरुद्ध संसार में जो भयानक प्रतिक्रिया उठी है, उसका निदान वह यह देते थे कि दोष धर्म का नहीं, धर्म के गलत प्रयोग का है। ठीक वैसे ही, जैसे विज्ञान से उठनेवाली भीषणताओं का दायित्व विज्ञान पर नहीं होकर उन लोगों पर है जो विज्ञान का गलत उपयोग करते हैं। स्वामीजी का विचार था कि "धर्म को समाज पर जिस

ढंग से लागू किया जाना चाहिए था, उस ढंग से वह लागू किया ही नहीं गया है।" हिन्दू अपनी सारी धार्मिक योजनाओं को कार्य के रूप में परिणत करने में असफल भले ही रहा हो, किन्तु यदि कभी भी कोई विश्व-धर्म जैसा धर्म उत्पन्न होनेवाला है तो वह हिन्दुत्व के ही समान होगा, जो देश और काल में कहीं भी सीमित या आबद्ध नहीं होगा, जो परमात्मा के समान ही अनन्त और निर्बन्ध होगा तथा जिसके सूर्य का प्रकाश कृष्ण और ईसा के अनुयायियों पर, संतों और अपराधियों पर एक समान चमकेगा। यह धर्म न तो ब्राह्मण होगा, न बौद्ध, न ईसाई होगा, न मुसलमानी; प्रत्युत, वह इन सबके योग और सामंजस्य से उत्पन्न होगा।"

विवेकानन्द ने हिन्दू धर्म और भारतीय संस्कृति की जो सेवा की, उसका मूल्य नहीं चुकाया जा सकता। उनके उपदेशों से भारतवासियों ने यह सीखा कि भारतवर्ष का अतीत इतना उज्जवल और महान् है कि उसके प्रति गौरव और अभिमान होना ही चाहिए। उनके उपदेशों से हमें यह ज्ञान हुआ कि हमारी प्राचीन संस्कृति प्राणपूर्ण एवं आज भी विश्व का कल्याण करने वाली है। अँगरेजी पढ़े-लिखे हिन्दू, जो अपने धर्म और संस्कृति की खिल्ली उड़ाने में ही अपनी सार्थकता समझते थे, विवेकानन्द के उपदेशों और कर्तृत्व से ही अन्तिम बार पराजित हुए। यह भी हुआ कि विवेकानन्द के उपदेशों से ही भारतवासी अपने पतन की गहराई माप सके, अपने शारीरिक क्षय एवं आधिभौतिक विनाश, अपनी क्रिया-विमुखता और आलस्य तथा अपने

पौरुष के भयानक ह्रास को पहचान सके और विवेकानन्द की वाणी में ही सांस्कृतिक राष्ट्रीयता का जन्म हुआ एवं लोगों में अपने भविष्य के प्रति उज्जवल आशा संचरित हुई। "साहस का सूर्य उदित हो चुका है, भारत का उत्थान अवश्य होगा।...किसी में यह दम नहीं है कि अब भारत को रोक सके। भारत अब फिर से निद्रा में नहीं पड़ेगा। यह भीमाकार देश फिर से अपने पावों पर खड़ा हो रहा है।"

जब नरेन्द्रनाथ परमहंस रामकृष्ण की संगति में आये, तो रामकृष्ण ने उनकी प्रतिभा को फौरन पहचान लिया। एक बार परमहंसजी ने कहा था, जिस एक शक्ति के उत्कर्ष के कारण केशव* जगद्विख्यात हुआ है, वैसी अठारह शक्तियों का नरेन्द्र में पूर्ण उत्कर्ष है। स्वयं नरेन्द्रनाथ के समक्ष प्रार्थना की मुद्रा में रामकृष्ण ने कहा था, "प्रभो! मुझे मालूम है कि तू पुरातन नारायण ऋषि है, और जीवों की दुर्गति का निवारण करने के लिए पुनः शरीर धारण करके आया है।" यह भक्त की परम्परागत भाषा है। किन्तु विवेकानन्द की प्रतिभा लोकोत्तर थी, यह हम भी कह सकते हैं। वर्तमान भारत जिस ध्येय को लेकर उठा है, उसका सारा आख्यान विवेकानन्द कह चुके थे। बाद के महात्मा और नेता उस ध्येय को कार्य का रूप देने का प्रयास करते रहे हैं। जिस स्वप्न के कवि विवेकानन्द थे, गाँधी और जवाहरलाल उसके इंजीनियर हुए हैं।

—'संस्कृति के चार अध्याय' से साभार।

*ब्रह्म-समाज के प्रसिद्ध नेता केशवचन्द्र सेन।

स्वामी विवेकानन्द के जीवन और कार्य का राष्ट्रीय महत्त्व

भगिनी निवेदिता (मिस मार्गरेट नोबुल)

(स्वामीजी के देहावसान के कुछ ही उपरान्त लिखा गया लेख। जुलाई १६०२ ई०)

जिसे संसार विवेकानन्द के नाम से जानता था, आज उसकी याद दिलाने को मुट्ठी भर राख ही बच रही है। जो ज्योति-शिखा पुण्यतोया भागीरथी के तीर पर पाँच वर्षों से एकान्त में जल रही थी, वह आज निर्वापित हो गयी है। जो प्रचण्ड ध्वनि विश्व के राष्ट्रों में गूँजती रही थी, वह आज मृत्यु की नीरवता में लीन हो गयी है। इस महान् शक्तिधर आत्मा के समीप जीवन बहुधा झंझावातों और दुख-कष्टों को लेकर आया; पर मृत्यु आयी शान्ति लेकर। अमावस्या के दिन, सान्ध्य आरती के पश्चात् चुपचाप मृत्यु का वरदान धरणी-तल पर उतरा और थकी और पीड़ित देह को ले गया, और आत्मा स्वस्वरूप में चिर समाहित हो गयी।

वे चले गये, जब उनकी सफलता के बाग के पहले फूल भी नहीं मुरझा पाये थे। वे चले गये, जब उनके कानों में नयी और महत्तर पुकारें गूँज रही थीं। उनकी बीमारी के ये कुछ वर्ष उनके उस सुन्दर निवास-स्थान पर पेड़-पौधों और पशु-पक्षियों के बीच चुपचाप बीत गये, जहाँ वे सारा

दिखावा छोड़कर, अपने नाम पर चमकती विपुल यशोराशि की उपेक्षा कर अपने शिष्यों को शिक्षा देने में संलग्न थे। 'मनुष्य निर्माण' ही, उनकी दृष्टि में, समस्त करणीय कार्यों का सार-संक्षेप था। और दिन-पर-दिन, उत्साहपूर्वक, बड़े परिश्रम के साथ वे इस 'मनुष्य-निर्माण' के कार्य में लगे रहे—कभी गुरु की तरह, कभी पिता की तरह और कभी स्कूल-शिक्षक की तरह। यहाँ तक कि जिस दिन वे हमें सदा के लिए छोड़ गये, उसी अपरान्ह को वे हमें तीन घंटे तक संस्कृत व्याकरण का पाठ पढ़ाते रहे! इस व्यक्ति के लिए बाहरी सफलता और नेतृत्व मानो कुछ भी न थे। पश्चिमी देशों में अपने अवस्थान-काल में स्वामीजी ने कई ऐसे बड़े-बड़े धनिकों और ऐश्वर्यशाली व्यक्तियों से मित्रता स्थापित की, जो स्वामीजी का अपने बीच रह जाना अपना अहोभाग्य समझते। पर पश्चिम अपनी सारी चमक-दमक और ऐश्वर्य के बावजूद भी स्वामीजी के मन में अपने प्रति कोई आकर्षण उत्पन्न न कर सका। उन्हें तो संन्यासी की लिबास, कलकत्ते की गलियाँ और अपने देशभाइयों की कमियाँ और कमजोरियाँ विदेशी के समूचे वैभव से अधिक प्यारी थीं। इसीलिए पूर्व की ओर स्वामीजी के नित्य बढ़ते हुए चरण को पश्चिम किसी प्रकार रोक न सका था।

वह क्या था, जो पश्चिम ने उनमें देखा और सुना, जिसके कारण कितने ही लोगों ने संसार के एक सबसे श्रेष्ट धर्म-शिक्षक के रूप में उनका जय-जयकार किया और उनके नाम को अपने हृदय में सँजोकर रखा? उन्होंने व्यक्तिगत

रूप से किसी प्रकार का दावा नहीं किया। उन्होंने कभी अपनी कहानी न कही। यहाँ तक कि एक व्यक्ति जो उन्हें लम्बे अरसे से जानता था और उनका विश्वासपात्र था, यह न जान पाया था कि स्वामीजी की अपने गुरुभाइयों के बीच कितनी प्रतिष्ठा है! उन्होंने अपरिचितों के बीच ईश्वर या गुरु का कोई विशेष रूप या सम्प्रदाय प्रचलित करने का प्रयत्न नहीं किया। प्रत्युत, गिरिराज हिमालय के हिमाच्छादित शिखरों में स्थित अपने गुप्त उद्गमों से प्रवाहित होकर हिन्दू धर्म की प्रबल मन्दाकिनी स्वामीजी में से प्रकट हुई थी, जिसकी शीतल वारि ने बौद्धिक और आध्यात्मिक जगतों को आप्लावित कर दिया था। यद्यपि वे भारतीय परिवारों और सन्त–महात्माओं की विशाल धार्मिक संस्कृति के नित्य साक्षी रहे, यद्यपि उन्होंने उपनिषदों के अतिरिक्त और कहीं से भी उद्धरण प्रस्तुत नहीं किये। उन्होंने वेदान्त को छोड़ और किसी बात की शिक्षा नहीं दी। और मनुष्य काँपने लगे, क्योंकि उन्होंने पहली बार ऐसे धर्म-मसीहा की बातें सुनीं, जो सत्य से भय नहीं खाता था।

क्या हम शिव सम्बन्धी वह गीत नहीं जानते जिसमें कहा गया है कि जब शिव रास्ते से जाते हैं, तो कोई उन्हें पागल कहता है। कोई कहता है कि वे पिशाच हैं। और कोई-कोई कहते हैं—अरे तुम नहीं जानते?—वे तो साक्षात् परमेश्वर हैं! इसी प्रकार, भारत इस बात को जानता है कि प्रत्येक महान् आत्मा परस्पर विपरीत आदर्शों की मिलन–भूमि और समन्वयस्थल होता है। अपने शिष्यों के लिए

विवेकानन्द सदा-सर्वदा संन्यासी श्रेष्ठ ही रहेंगे। उनसे हमें प्राप्त होनेवाली प्रेरणाओं में ज्वलन्त त्याग का भाव ही प्रमुख था। एक समय उन्होंने आवेगपूर्वक कहा था, 'मैं भी अपने गुरुदेव की भाँति एक सच्चे संन्यासी के समान मरना चाहता हूँ। कामिनी, कांचन, कीर्ति—किसी की स्पृहा न रहे! और इन तीनों में तो यश-स्पृहा सबसे छलनी है!' जहाँ एक ओर सर्वोच्च लक्ष्य की प्राप्ति की प्रेरणा ने स्वामीजी के हृदय में तीव्र वैराग्य की ऐसी भावना भर दी थी, वहीं दूसरी ओर उसने उनमें आदर्श गृहस्थ के भाव को भी साकार कर दिया था, जिसके फलस्वरूप हम स्वामीजी में बचाने और संग्रह करने की प्रवृत्ति को काम करती हुई देखते हैं; देखते हैं कि स्वामीजी वस्तुओं का उपयोग कितनी उत्सुकता से सीखना और सिखाना चाहते हैं, किस प्रकार जीवन को वे फिर से संगठित करना चाहते हैं, उसे एक नया क्रम देना चाहते हैं। इस दृष्टि से वे सचमुच बेनेडिक्ट और बर्नार्ड की, राबर्ट डि सीतियो और लोयोला की कोटि में आते हैं। यह कहा जा सकता है कि कैथॉलिक चर्च के इतिहास में जिस प्रकार असीसी के सन्त फ्रांसिस के व्यक्तित्व में पल भर के लिए भारतीय संन्यासी के गेरुआ वस्त्र की झलक दिखायी पड़ती है, उसी प्रकार विवेकानन्द के व्यक्तित्व में मानो पश्चिम के वैरागियों के महान् सन्त-मठाधीश नये रूप में पूर्व में जन्म लेते हैं।

इसी भाँति, एक ओर जहाँ स्वामीजी इन्द्रियातीत धर्म के उदात्त प्रकाशन थे, वहीं दूसरी ओर वे सबसे महान्

देशभक्तों में से थे। वे उस समय रहे, जब राष्ट्रीय विखण्डता और विभेदकता का प्रारम्भ हो चुका था, पर वे घबड़ाने वाले नहीं थे। वे उस समय रहे, जब लोग अपनी संस्कृति का परित्याग कर रहे थे, और वे पुरातन के अनन्य उपासक बने रहे। उनमें राष्ट्र के लक्ष्य ने परिपूर्णता प्राप्त की। राष्ट्र का लक्ष्य कहता है कि राष्ट्रीय चेतना की प्रत्येक नवीन लहर का प्रारम्भ सदैव धर्म के मसीहाओं द्वारा होना चाहिए। ऐसे व्यक्ति में, हो सकता है, हमें भविष्य का समूचा वेद प्राप्त है। हाँ, यह बात हमें अवश्य स्मरण रखनी चाहिए कि विवेकानन्द के धार्मिक महत्त्व को आँकने का समय अभी नहीं आया है। धर्म एक जीवित बीज है और वे अभी-अभी इस बीज को बोकर गये हैं। अभी उनकी फसल पकी नहीं है। पर यह एक सत्य है कि मृत्यु से देशभक्त यथार्थ अर्थों में देश का हो जाता है। आज जब शिष्यों के बीच से गुरुदेव महाप्रयाण कर चुके हैं, आज जब श्मशान-घाट में अनेक आलोचकों की आवाजें बन्द हैं, स्वातंत्र्य की घोषणा करनेवाली वह महान् ध्वनि अप्रतिहत रूप से गूँज रही है और सारा राष्ट्र एक होकर उसका उत्तर दे रहा है।

हमारे मध्य से एक ऐसे मनस्वी बिछुड़ गये, जिन्हें कई देशों के लोगों को घनिष्ठ रूप से देखने का अपूर्व अवसर प्राप्त हुआ था। पूर्व और पश्चिम वे देख चुके थे और उच्च और निम्न सभी वर्गों के द्वारा समान रूप से सम्मानित हुए थे। जो कुछ उन्होंने देखा, उसका पूरा आकलन उनकी तीक्ष्ण मेधा ने कर लिया। कई बार उनके मुख से उद्गार

निकला, 'अमेरिका शूद्रों की समस्या को हल करेगा, पर कितनी भीषण उथल-पुथल के भीतर से!' किन्तु जब वे दूसरी बार अमेरिका गये और पश्चिम में सर्वत्र व्याप्त धन-लालसा और दलन-लिप्सा की तुलना एशिया में शतकों पूर्व खोजे गये समाधानों की शान्त गरिमा और नैतिक स्थिरता से की, तो अपने उपर्युक्त मत को बदल देने का उनका मन हो आया। उनकी तीक्ष्ण बुद्धि अपूर्व मानव-प्रेम से संयुक्त थी। हमने नीग्रो के लिए ऐसे आशापूर्ण सन्देश की सपने में भी कल्पना नहीं की थी, जैसा कि स्वामीजी ने दिया। एक अमेरिकन आफ्रिका की जातियों पर घृणा बरसाते हुए स्वामीजी से उलझ पड़ा। स्वामीजी ने उसे ऐसा फटकारा और उन बर्बर कहलानेवाली जातियों के प्रति ऐसे आशापूर्ण उद्गार व्यक्त किये कि हम लोग सुनकर दंग रह गये। जब वे अमेरिका के दक्षिणी प्रान्तों में भ्रमण कर रहे थे, तब कई बार उन्हें 'काला आदमी' (नीग्रो) समझकर घर में घुसने नहीं दिया जाता था। पर जब लोगों को मालूम पड़ता कि ये भारतीय हैं और विश्वविख्यात विवेकानन्द यही हैं, तब वहाँ के उच्चतम परिवारों में उनका जोरदार स्वागत-सत्कार और उनकी अभ्यर्थना होती, और इस प्रकार वे लोग अपनी भूल का प्रायश्चित्त करने से नहीं चूकते थे। पर स्वामीजी कभी भी अपने मुख से ऐसा नहीं कहते थे कि मैं नीग्रो नहीं हूँ, मैं भारतीय हूँ, मैं अमुक-अमुक हूँ। जब लोगों ने उनसे उनके इस प्रकार मौन रहने का कारण पूछा, तो उन्होंने केवल इतना कहा, 'यदि मैं अपना परिचय दे देता, तो क्या वह अपने

नीग्रो भाइयों का अस्वीकार करना न होता !' उनके लिए प्रत्येक जाति की अपनी महानता थी, जिसके प्रकाश में उस जाति का जीवन स्पन्दित होता था। यूरोप से यदि तुर्क को निकाल दें, तो यूरोप कहाँ रहेगा ? मिस्र देश अपने धरती-पुत्रों की उन्नति पर ही खड़ा है। इंग्लैण्ड ने आत्म-सम्मान के साथ आज्ञा-पालन के रहस्य को जान लिया है। और जापान में, अन्य किसी राष्ट्र-भक्ति की अपने साथ तुलना करना राष्ट्रीय पाप है।

तो, वह कौनसी भविष्यवाणी थी, जो विवेकानन्द अपने देशवासियों के लिए छोड़ गये ? उन्होंने उस गेरुआ परिधान में कौनसा राष्ट्रीय महत्त्व भरा है, जिसे वे महाप्रयाण के समय अपने पीछे छोड़ गये हैं ? तो क्या, कदाचित्, यह हम लोगों के लिए है कि हम उस गेरुए वस्त्र को उठाकर फहरा लें और उसे अपना झंडा बनाकर सामने बढ़े चलें ? हाँ, हाँ, अवश्य ! यह एक ऐसा व्यक्ति था, जिसने सपने तक में असफलता की कल्पना नहीं की। यह एक ऐसा व्यक्ति था, जिसने शक्ति, बल के अतिरिक्त और किसी पर चर्चा नहीं की। स्वामीजी भावुकता से सभी प्रकार मुक्त थे। अपने ऊपर किसी के अधिकार की कल्पना तक उन्हें सह्य नहीं थी और जब कभी वे किसी विदेशी से मिले, एक स्वामी की तरह अधिकारपूर्ण ढंग से मिले। उनसे भलीभाँति परिचित एक अँगरेज ने कहा था, 'स्वामीजी की महान् प्रतिभा उनकी गरिमा में है—वह नृपोचित गरिमा से किसी भाँति न्यून नहीं है !' स्वामीजी ने इस महान् तथ्य को जान लिया था कि

पूर्व पश्चिम के पास आये, पर एक चापलूस या दास की तरह नहीं प्रत्युत गुरु की तरह, शिक्षक की तरह। उन्होंने कभी भी अपने व्यक्तिगत श्रेष्ठत्व की पताका को नीचे नहीं झुकने दिया। वे व्यंग की मुसकान अपने अधरों पर लाकर कहा करते, 'हाँ, हाँ, यूरोप के लोग धर्म में हमारा नेतृत्व करें न !' एक समय उन्होंने कहा, 'मैंने प्रतिशोध की बात कभी नहीं कही। मैंने सदैव बल की ही बात कही है। क्या कभी हम सागर की उस बूँद से बदला लेने की बात सोचते हैं, जो हवा से उछलकर हमसे टकरा जाती है ? पर वही एक मच्छर के लिए बहुत बड़ी बात है।'

स्वामीजी की आँखों में ऐसा कोई भारतीय तथ्य नहीं था, जिसके लिए हमें क्षमा-याचना करनी पड़े। यदि कभी कोई तथाकथित सुसंस्कृत दिमागवाला विदेशी भारत की किसी बात को बर्बरता या असभ्यतापूर्ण कह देता, तो स्वामीजी बात को बिना इनकार किये या बिना किसी प्रकार घटाये, एकदम अपनी प्रचण्ड शक्ति को उस विशेष तथ्य की पुष्टि करने में केन्द्रित कर देते और वह बेचारा आलोचक अपने ही तर्कों के हिंडोले में आगे-पीछे झूलने लगता था। इस सन्दर्भ में एक घटना याद आती है। स्वामीजी जहाज से जा रहे थे। एक अँगरेज ने पुराणों के सम्बन्ध में कोई व्यंगात्मक-प्रश्न पूछ दिया। स्वामीजी के उत्तर से वह बेचारा अँगरेज ऐसा हक्का-बक्का रह गया कि देखते ही बनता था। जो भी उस दिन वहाँ पर उपस्थित था, उस दृश्य को कभी नहीं भूल सकता। स्वामीजी ने ईसाई धर्मग्रन्थों के स्तर पर हिन्दू

पुराणों की केवल तुलना ही नहीं की, बल्कि वेदों और उपनिषदों को ऐसी ऊँचाई पर स्थापित कर दिया जहाँ तक किसी प्रतिद्वन्द्वी की पहुँच नहीं थी। स्वामीजी ऐसे प्रसंगों पर मित्रता का ख्याल न रखते थे। जहाँ राष्ट्र की सम्मान-रक्षा का प्रश्न आता, वे बिना किसी हिचक के आलोचक पर टूट पड़ते, चाहे वह उनका परम मित्र ही क्यों न हो! ऐसा दृष्टिकोण, हो सकता है, सभी अवस्थाओं में उचित न जँचे। कभी-कभी तो वह निश्चय रूप से अरुचिकर प्रसंगों को जन्म दे देता था। पर तो भी पौरुष की दृष्टि से वह अप्रतिम था, जिसकी प्रशंसा निन्दकों तक को करनी चाहिए। जो कुछ भी भारतीय था, वह विवेकानन्द के लिए समान रूप से परम पवित्र था। भारत के प्रति उनकी धार्मिक श्रद्धा इसी उक्ति से प्रकट होती है—'वह भूमि, जहाँ ईश्वराभिमुख अग्रसर होनेवाली सभी आत्माओं को आना ही पड़ेगा!' यदि शिकागो के उस महान विश्व-मेले में उन्हें कोई भारतीय मिल जाता—चाहे वह धनी हो या निर्धन, उच्च हो या नीच, हिन्दू हो या मुसलमान, पारसी हो या कोई अन्य—तो वे उसे अपने साथ अपने गृहस्वामी के यहाँ आतिथ्य-सत्कार के लिए ले आते। और उनके मित्र यह जानते थे कि यदि स्वामीजी द्वारा लाये गये व्यक्ति के प्रति उदारता प्रदर्शित करने में किसी प्रकार की त्रुटि हो गयी, तो उन्हें स्वामीजी के संग-लाभ से तुरन्त वंचित होना पड़ेगा।

स्वामीजी स्वयं हिन्दू धर्म के व्याख्याता थे, पर यदि वे देखते कि अन्य धर्मावलम्बी कोई भारतीय अपने धर्म को

श्रोताओं के सम्मुख प्रस्तुत करने में कठिनाई महसूस कर रहा है, तो वे बैठ जाते और उसके लिए लेख लिख देते। जितना अच्छा वह स्वयं अपने धर्म पर न लिख पाता, उससे कहीं अधिक अच्छा स्वामीजी अपने मित्र के लिए उसके धर्म पर लिख देते!

वे अपने विदेशी शिष्यों को उँगलियों से भोजन करना सिखाने में तथा हिन्दू जीवन के सामान्य कार्यों की शिक्षा देने में बड़ा परिश्रम उठाया करते थे। वे कहा करते थे, 'ध्यान रखो! यदि तुम भारत को प्यार करना चाहते हो, तो उसका जो रूप है उसी रूप में उसे प्यार करो, न कि उस रूप में जैसा तुम उसे देखना चाहोगे!' भारत जो कुछ वास्तव में था उसके प्रति चट्टान बनकर खड़े हो जाने की यह जो स्वामीजी की महान् दृढ़ता थी, वही उन विदेशियों की आँखें खोलने में शायद अन्य किसी एक तथ्य की अपेक्षा अधिक बली कारण रही है, जो स्वामीजी को चाहते थे, जो प्राचीन गीत—भारत के साधारण जन की सामान्य जीवनधारा—के सौन्दर्य और शक्ति के आदर्श को प्यार करते थे। स्वामीजी जहाँ भी गये, वहाँ की सर्वोत्तम चीजें उन्हें मिलीं। पर उनका कोई असर स्वामीजी पर नहीं हुआ, वे पुरानी परम्परा के वही सरल हिन्दू बने रहे। उन्हें भारत की इस अनाडम्बर एवं सादगीपूर्ण जीवनधारा पर इतना गौरव था कि उन्हें किसी प्रकार के परिवर्तन की आवश्यकता प्रतीत नहीं हुई। अपने महाप्रयाण के केवल दो ही दिन पूर्व उन्होंने कहा था, 'रामकृष्ण के बाद मैं विद्यासागर का अनुगामी हूँ!' और

उन्होंने विद्यासागर सम्बन्धी वह प्रचलित कहानी सुनायी कि जब ईश्वरचन्द्र विद्यासागर आमंत्रित होकर वाइसराय के कौंसिल चैम्बर में चद्दर ओढ़े और धोती पहिने तथा खड़ाऊँ की खटर-खटर ध्वनि के साथ पहुँचे; तो उपस्थित लोगों द्वारा आपत्ति उठायी गयी। इस पर विद्यासागर ने कहा था, 'यदि आप मुझे नहीं चाहते थे, तो मुझे फिर बुलाया ही क्यों था ?'

ये कुछ बातें स्वामीजी की व्यक्तिगत विशेषताओं के रूप में रोचक हैं। पर इनके माध्यम से हम उनकी जिस दृढ़ धारणा और विश्वास के दर्शन करते हैं, वह अधिक महत्व-पूर्ण है। उनका सारा जीवन हिन्दू धर्म के सामान्य आधार की अनवरत खोज में लगा रहा। यह विचार कि दो पैसे का टिकट, सस्ती यात्रा और एक सर्वसामान्य भाषा से राष्ट्रीय एकता सम्पादित हो सकेगी, स्वामीजी को बड़ा बचकाना और उथला-सा मालूम होता था। यदि भारत में पहिले से ही कोई एकता उसकी गहन प्रकृति में दृढ़मूल होती, तभी उपर्युक्त बातें भारत के लिए सहायक सिद्ध हो सकती थीं और उस एकता की अभिव्यक्ति का साधन बन सकती थीं। प्रश्न यह था कि क्या इस प्रकार की एकता का अस्तित्व है, या नहीं है ? लगभग आठ वर्ष तक स्वामीजी इसी प्रश्न के उत्तर की खोज में देश भर में विचरण करते रहे। हर नये गाँव में वे अपना नाम बदल लेते और जो भी मिलता उसी से सीखते। और इस प्रकार उन्होंने जो दृष्टि प्राप्त की, वह जितनी सही और सूक्ष्म थी उतनी ही गहन और विशाल थी। यह वही महान् खोज थी, जिसने स्वामीजी के हृदय को आशा और

विश्वास से भरा। तभी तो जब वे सर्व-धर्म-सम्मेलन में पश्चिम के सम्मुख खड़े हुए, उन्होंने यह सिद्ध कर दिया कि हिन्दू धर्म 'पूर्ण स्वातंत्र्य के आदर्श पर इतनी सर्वात्मकता के साथ केन्द्रित होता है कि अन्य किसी भी धर्म के समान उसमें बौद्धिक आक्रमण की पूर्ण क्षमता है। उनके मन में यह विचार कभी नहीं आया कि उनके देशवासी अन्य किसी भी देश के निवासियों की अपेक्षा किसी तरह कम हैं। यह वे अच्छी तरह जानते थे कि धर्म ही भारत का राष्ट्रीय आदर्श है, उसकी राष्ट्रीय अभिव्यक्ति है और इसीलिए उनका यह दृढ़ विश्वास था कि उनके देश के लोग धर्म के क्षेत्र में जिस शक्ति का प्रदर्शन करेंगे, उसके पीछे-पीछे शीघ्र ही अन्य सभी प्रकार की शक्ति उनके पास आ जायगी।

स्वामीजी ने जाति-प्रथा का गहरा अध्ययन किया था और उन्होंने भारतीय एकता की कुंजी जाति की पृथकता (exclusiveness) में पायी। मुसलमान इस राष्ट्र की एक जाति थे, ईसाई दूसरी, पारसी तीसरी आदि-आदि। यह ठीक है कि जाति में विश्वास न करना ही इनका (कुछ पारसियों को छोड़कर) जातिगत वैशिष्ट्य था, पर यह बात तो ब्रह्म-समाज और भारत के अन्य आधुनिक सम्प्रदायों पर भी लागू होती थी। इन सबके पीछे समान रूप से वही धरित्री थी, पूर्वजों की सभ्यता की वही सुन्दर पुरातन परम्परा थी और वही जबरदस्त आवश्यकताएँ थीं, और स्वामीजी का विचार था कि ये सर्वसामान्य तथ्य मिलकर देश की इन जातियों में अन्ततोगत्वा समान बातों के प्रति

प्रेम और घृणा के भाव अनिवार्य रूप से भर देंगे।

स्वामीजी को भारत के हर सम्प्रदाय, हर वर्ग की आशाओं और आदर्शों का ही ज्ञान नहीं था, बल्कि उनके हृदय में उन सबकी अतीत स्मृतियाँ भी सुरक्षित थीं। स्वामीजी कलकत्ते के एक हिन्दू परिवार में जन्मे थे और अब गंगा के तीर पर निवास कर रहे थे। पर उनके भावों के उद्वेलन को देखने से ऐसा लगता था कि अब वे पंजाब में जन्में हैं, कभी ऐसा लगता कि हिमालय की सुन्दर उपत्यकाओं में उनका जन्म हुआ है और कभी ऐसा प्रतीत होता कि स्वामीजी ने राजपुताना में अथवा और कहीं जन्म ग्रहण किया है। उनके अधरों पर कभी गुरु नानक के गीत होते, तो कभी मीराबाई के और कभी तानसेन के गीतों में वे विभोर हो जाते। वे कभी पृथ्वीराज और दिल्ली की कहानियाँ सुनाते, कभी चित्तौड़ और राणा प्रताप की; कभी शिव और उमा की कथाएँ सुनाते, कभी राधा और कृष्ण की; कभी सीता और राम की गाथाएँ कहते, तो कभी अमिताभ बुद्ध की। जब स्वामीजी स्वयं अभिनय करते, तो पूरे अभिनय में अद्‌भुत सजीवता आ जाती, अतीत मानो वर्तमान में उतर आता। उनका समूचा मन-प्राण देश का मानो ज्वलन्त महाकाव्य था और मातृभूमि के नाम-श्रवण मात्र से ही उनका सारा व्यक्तित्व गूढ़ भावोच्छ्‌वास से आप्लावित हो उठता था।

बेलुड़ मठ में स्वामीजी के पास विश्व के सभी भागों से दर्शकों और चिट्ठी-पत्रों का ताँता लगा रहता था। भारत की

ऊपरी सतह पर आज भले ही मौन का साम्राज्य दिखे, पर उसके हृदय के अन्तरतम प्रदेश में स्वामीजी सदैव विद्यमान रहेंगे। वे कभी भुलाये नहीं जा सकते। कोई उनकी उपेक्षा करने की इच्छा या साहस नहीं कर सकता। ऐसी कोई आशा की वाणी नहीं थी, जो स्वामीजी के कानों में न गयी हो; कोई ऐसी पीड़ा की कराहट नहीं थी, जिसे स्वामीजी ने नहीं जाना हो; और उनका सारा जीवन सान्त्वना देने और ऊपर उठाने में लगा रहा। इस प्रकार, जैसा कि धर्म के नेताओं के साथ हरदम होता रहा है, स्वामीजी ने जिस भारत को देखा, वह अन्य दूसरी आँखों में दिखनेवाले चित्र से सर्वथा भिन्न था। कारण यह था कि स्वामीजी के हाथों में उन सारे तथ्यों के सूत्र विद्यमान थे, जो मौलिक थे, प्राणप्रद थे, देश की प्रकृति में दृढ़मूल थे; उन्होंने जीवन के छिपे हुए स्रोतों को जान लिया था; वे जान चुके थे कि किस शब्द से लक्ष-लक्ष जन-मानस को स्पर्श करना है। और अपनी इस समस्त जानकारी के फलस्वरूप उन्होंने एक बात निश्चित रूप से देखी थी, वह थी—आशा की स्पष्ट और बलवती किरण।

दूसरे लोग कुछ भी कहें, कैसी भी भूल करें। पर स्वामीजी के लिए भारत अभी शिशु था, भारतीय भाषाएँ अभी भी अनगढ़ी और लचीली थीं, राष्ट्रीय ऊर्जा अस्पर्शित थी। उनके सपनों का भारत भविष्य की गोद में था। दुःख और कष्ट में से आज भारत के क्षितिज पर जो नवीन भावोन्मेष हुआ है, वह, स्वामीजी की दृष्टि में, एक लम्बे विकास-क्रम में केवल पहला चरण था। उनके मतानुसार,

देश की आशा स्वयं उसमें निहित थी, किसी विदेशी में नहीं। यह सत्य है कि उनके विशाल हृदय में विदेशियों की आवश्यकता का भी स्थान था और इस प्रकार उन्होंने विश्व के समक्ष सार्वभौमिकता का आदर्श रखा। पर उन्होंने किसी से भीख नहीं माँगी, किसी से सहायता की याचना नहीं की। उन्होंने बाहर के किसी भी व्यक्ति या देश पर भरोसा नहीं किया। उनका दृढ़ विश्वास था कि देश के लिए जो कुछ करना है, वह करनेवालों के कर्तृत्व से सम्पन्न होगा, याचना करनेवालों की भिक्षा से नहीं। न वे बाहर से कोई आशा रखते थे, न उन्हें बाहर का कोई भय था। उनके संन्यास लेने का तात्पर्य था—भारत की यथार्थ आत्मा का पुनरुद्घोष राष्ट्र की महती जीवनधारा में नवीन आत्म-विश्वास और प्राण-शक्ति का संचार, जिससे वह महासागर के लिए अपना रास्ता स्वयं प्रशस्त कर ले। उनके लिए संन्यास का अर्थ था-महत्तर सेवा के लिए लघुता का त्याग। उनके लिए भारत हिन्दुत्व का, आर्यत्व का, एशियात्व का पर्याय था। भारत के तरुण आधुनिक वैभव और विलासिता में अपने प्रयोग भले ही करें, उन्हें इसका पूरा अधिकार है। पर अन्त में उन्हें लौटना पड़ेगा; क्योंकि भारत की आत्मा की अथाह गहराइयाँ नीति की हैं, संयम और तपस्या की हैं; अध्यात्म की हैं। वह जाति जो गंगा के तीर पर मृत्यु का आलिंगन करने को आतुर रहती है, अधिक समय तक केवल यांत्रिक शक्ति की चकाचौंध में पड़कर विपथगामी नहीं बनी रह सकती।

बुद्ध ने त्याग का उपदेश दिया था और दो शतकों में

भारत एक विशाल साम्राज्य बन गया! अब एक बार फिर से उसकी नसों में वही महान स्पन्दन दौड़ जाय। उसकी इस नव प्रबुद्धा शक्ति के सम्मुख पृथ्वी की कोई ताकत टिक न सकेगी। पर हाँ, वह एक बात जान ले कि अपने स्वयं के जीवन में ही उसे जीवन मिलेगा, किसी के अनुकरण में नहीं; उसे अपने ही सम्यक् अतीत और परिवेशों से प्रेरणा प्राप्त होगी, किसी विदेशी से नहीं।

जो अपने को दुर्बल समझता है, वह दुर्बल है ही। जो अपने को सामर्थ्यवान् समझता है, वह अजेय बन चुका। इसीलिए अपने देश के लिए, अपके प्रत्येक देशवासी के लिए विवेकानन्द की केवल एक ही बात है, बारम्बार घोषित किया हुआ केवल एक ही सन्देश है—

'उत्तिष्ठत, जाग्रत, प्राप्य वरान्निबोधत,'
—'जागो! उठो! लगे रहो! लक्ष्य की प्राप्ति तक रुको मत!'

स्वामी विवेकानन्द और शिक्षा

श्रीमती चन्द्रकुमारी हण्डू, एम० ए०

अच्छी शिक्षा राष्ट्र-निर्माण के सबसे शक्तिशाली साधनों में से एक है। भारत का भविष्य भी इस बात पर बहुत दूर तक निर्भर करता है कि उसकी वर्तमान पीढ़ी इस समस्या का हल किस प्रकार प्रस्तुत करती है। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि पाश्चात्य भावापन्न और सम्पूर्णतः राष्ट्रविरोधी हमारी यह वर्तमान शिक्षा-प्रणाली आधुनिक भारत की पृष्ठ-भूमि में एकदम विसंगत है। वह तो हमें उन अँगरेजों की विरासत के रूप में मिली है, जिन्होंने हममें से कुछ लोगों को अपनी भाषा में इसलिए दीक्षित किया कि हम उनके कार्यालयों में विलक्षण यांत्रिक गति से कार्य कर सकें और शक्तिशाली ब्रिटिश साम्राज्य को दृढ़ता एवं संरक्षता प्रदान कर सकें। किन्तु समय में उल्लेखनीय परिवर्तन हो गया है, और आज हमें भीरु और प्राणहीन लिपिकों के स्थान पर ऐसे स्त्री-पुरुषों की आवश्यकता है, जो साहसी हैं, कुशल और दक्ष हैं; ऊँची भावनाओं से अनुप्राणित हैं, स्वार्थ के संकीर्ण घेरे से उठे हुए हैं, जिनमें रचनात्मक अन्तर्दृष्टि है। ऐसे स्त्री-पुरुष केवल जीविकोपार्जन करने अथवा कुछ बच्चों के भरण-पोषण में ही अपने आपको खप देने के बदले, महत्तर उद्देश्यों के कार्यान्वयन में अपनी इच्छाशक्ति को दृढ़तापूर्वक नियोजित कर सकेंगे।

स्वामी विवेकानन्द यद्यपि मानवमात्र के प्रेमी थे और संसार को धर्म की शिक्षा देनेवाले आचार्य थे, तथापि वे महान् देशभक्त और भारतीय जनता के अग्रगामी नेता भी थे। जिस समय वे एक अज्ञात संन्यासी के रूप में भारत के एक छोर से दूसरे छोर तक परिव्रजण कर रहे थे, उस समय उन्होंने उन बातों पर गहराई से विचार किया था, जो भारत के पतन में कारणस्वरूप रही थीं। अपनी मातृभूमि को सभ्य राष्ट्रों के बीच में फिर से पुरातन गरिमा और उत्कर्ष से मण्डित देखना उनके हृदय की सर्वाधिक वेगवती इच्छा थी। उनके प्रेरणादायक संवादों में हम जीवन का कोई भी पक्ष ऐसा नहीं देखते, जो उनकी तीक्ष्ण मेधा और गम्भीर आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि के संस्पर्श से अछूता रहा हो; और इन पक्षों में शिक्षा महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है।

भारतीय परम्परा के अनुसार, जब-जब संस्कृति और सभ्यताएँ अधःपतित हुई हैं, जब-जब मानवीय मेधा विभ्रमित और विमूढ़ हुई हैं, तब-तब जीवन की नयी दिशाओं की ओर संकेत करने तथा मानव-हृदय में शक्ति और विश्वास की लहर भरने के लिए महान् मनीषियों का अवतरण हुआ है। स्वामी विवेकानन्द ऐसे ही एक मनीषी थे। उन्होंने स्पष्ट और कभी-कभी लौकिक भाषा में पुरातन भारत से भी अधिक भव्य और महत्तर, अपने सपनों के भारत की रूपरेखा प्रस्तुत की है। अतः आज, जब हमारा मन शिक्षा की समस्या से उद्वेलित है, यह उचित ही होगा कि हम स्वामीजी के शिक्षा-विषयक विचारों से परिचित हों;

क्योंकि हमारी पीढ़ी की इस ज्वलन्त समस्या के सम्बन्ध में स्वामीजी ने जो विचार प्रस्तुत किये हैं उनका अध्ययन हमारे बालकों की शिक्षा-प्रणाली की नियोजना की दृष्टि से अत्यन्त लाभप्रद सिद्ध होगा।

शिक्षा की परिभाषा:-स्वामीजी से एक समय पूछा गया, "आज की विश्वविद्यालयीन शिक्षा-प्रणाली में क्या दोष हैं?' "क्यों, वह तो आदि से अन्त तक दोषों से भरी हुई है," उन्होंने उत्तर दिया और अपनी बात पर जोर देते हुए कहा, "वह बाबुओं का उत्पादन करने में सक्षम एक कुशल यंत्र के अतिरिक्त और क्या है ? यदि इतना ही होता तो मैं प्रभु को धन्यवाद देता। पर कहाँ ! देखो न, लोग किस प्रकार श्रद्धा और विश्वास से हीन होते जा रहे हैं। वे घोषणा करते हैं कि गीता भ्रमात्मक है—एक क्षेपक मात्र है, और वेद ग्राम्य लोकगीतों से अधिक महत्त्व नहीं रखते!" एक अन्य अवसर पर उन्होंने आधुनिक शिक्षा की उपमा एक ऐसे व्यक्ति से दी थी, जिसे यह बताया गया था कि गधा पीटने से घोड़ा बन जाता है और उसने अपने गधे को घोड़ा बनाने के लिए पीट-पीटकर अधमरा बना दिया था!

यद्यपि स्वामीजी की शिक्षा की परिभाषा बहुतों को मालूम है, तथापि प्रस्तुत संदर्भ में उसकी पुनरावृति वांछनीय है। स्वामीजी ने कहा है, "शिक्षा मनुष्य के भीतर निहित पूर्णता का विकास है।' मानव में अन्तर्निहित पूर्णता का विचार एक विशुद्ध वेदान्तीय धारणा है। इसकी उपलब्धि मानव-जीवन के स्तर और गौरव को अत्यधिक परिवर्धित

कर देती है, इसकी स्वीकृति निष्ठा और आत्म-विश्वास की पहली सीढ़ी है और यह आत्म-विश्वास ही पौरुष एवं चरित्र का सार है। यद्यपि यह परिभाषा एक सार्वकालिक सत्य है और सभी लोगों के लिए प्रयोजनीय है, तथापि इस आधुनिक युग के लिए, जो अलगाव की वृत्ति, संकीर्णता और दलगत भावनाओं को मानवीय चिन्तना के विकास के पथ में व्यवधान-स्वरूप समझता है, वह विशेष रूप से प्रयोज्य है। स्वामीजी पुनः कहते हैं, "शिक्षा है क्या ? क्या वह किताबी ज्ञान है ? नहीं। तो क्या वह बहुमुखी ज्ञान है ? वह भी नहीं। शिक्षा वास्तव में, एक ऐसा प्रशिक्षण है जिसके द्वारा संकल्प-शक्ति की अभिव्यक्ति को और उसके प्रवेग को सन्तुलित एवं लाभप्रद बनाया जाता है।"

विज्ञान की शिक्षा के पक्ष में :—स्वामी विवेकानन्द ने शिक्षा की सूक्ष्मताओं पर भी पूरी स्पष्टता से अपने विचारों को अभिव्यक्त किया है। मोटे तौर पर वे पाश्चात्य विज्ञान को वेदान्त के साथ समायोजित करना चाहते थे; क्योंकि उनका यह विश्वास था कि इस प्रकार दोनों के समाहार से ही विश्व में शान्ति और समृद्धि के युग का अवतरण होगा। विज्ञान के आधुनिक आविष्कारों ने जीवन के कठिन और अरुचिकर कार्यों को सुकर बना दिया है, पर यांत्रिक उपकरणों की सहायता से मनुष्य ने जिस विशद अवकाश की उपलब्धि की है, उसका उपयोग सही तरीके से नहीं हो सका है। मनुष्य को जीने के लिए विवेक और कष्टों को सहने के लिए धैर्य प्रदान करने के साथ, वेदान्त उसकी मनोगत आकांक्षाओं

की तृप्ति भी कर सकता है और विश्व की नैतिक क्षयग्रस्तता का निवारण कर सकता है। जन-सेवा के लिए समवेत प्रयत्न स्वार्थ और लोलुपता पर अंकुश लगेगा और मन की निरंकुश प्रवृत्तियों से उत्पन्न होनेवाली बुराइयाँ दूर होंगी। स्वामीजी ने कहा है, "आज इस बात की आवश्यकता है कि हम वैदेशिक नियंत्रण से परे, स्वतंत्र रूप से, ज्ञान की उन विविध शाखाओं का अध्ययन करें, जो हमारी अपनी हैं। साथ ही, हम अँगरेजी भाषा और पाश्चात्य विज्ञान का भी ज्ञान प्राप्त करें। हमें तकनीकी (technical) शिक्षा तथा उन सब बातों की आवश्यकता है, जिनसे हम उद्योगों का विकास कर सकें और नौकरी ढूँढ़ने के बदले अपने पैरों पर खड़े रहकर इन उद्योगों के द्वारा जीविका के लिए यथेष्ट उपार्जन कर सकें तथा दुर्दिनों के लिए कुछ बचा भी सकें।"

वर्तमान समय में भाषा की समस्या हमारे देश की एक ज्वलन्त समस्या है। नयी व्यवस्था में अँगरेजी, अन्य प्रादेशिक भाषाओं और संस्कृत का क्या स्थान होगा? स्वामीजी के उपर्युक्त उद्धरण से तथा उनके अन्य लेखों से ऐसा प्रतीत होगा कि उन्होंने वैज्ञानिक शिक्षा के माध्यम के रूप में अँगरेजी भाषा को महत्त्व प्रदान किया था। यद्यपि उन्होंने विशेष रूप से एक सर्वसामान्य भाषा की आवश्यकता का प्रतिपादन नहीं किया था, पर यदि हम उनकी शिष्या निवेदिता को उनके विचारों की सच्ची भाष्यकर्त्री समझते हैं, तो हम कदाचित् उनके विचारों के स्थान पर निवेदिता के विचार ग्रहण कर सकते हैं। शिक्षा के द्वारा राष्ट्रीय अखण्डता

कैसे लायी जा सकती है इस पर विचार करते हुए निवेदिता ने अपने 'National Education in India' नामक ग्रन्थ में लिखा है, "यदि सभी मनुष्य एक ही भाषा में वार्तालाप करें, एक ही प्रकार से अपने विचारों को प्रकट करना तथा समान लक्ष्यों की अनुभूति करना सीखें, यदि सभी को समान शक्तियों के प्रति समान रूप से प्रतिक्रियाएँ प्रकट करना सिखाया जाय और उन्हें इसके लिए सक्षम बनाया जाय, तब तो हमारी एकता स्वयंभू बनकर प्रकट होगी और अटूट रहेगी।"

संस्कृति की रक्षक संस्कृत:-प्रादेशिक भाषाओं और संस्कृत के सम्बन्ध में स्वामी विवेकानन्द ने कई अमूल्य और विधेयात्मक सुझाव प्रस्तुत किये हैं। यद्यपि वे प्रादेशिक भाषाओं की संवर्धना के पक्ष को महत्वपूर्ण समझते थे, फिर भी वे दृढ़तापूर्वक संस्कृत की महत्ता को अन्य सभी तथ्यों की अपेक्षा अधिक मानते थे। प्रादेशिक भाषाएँ और संस्कृत भाषा जीवन के अलग-अलग कार्यों की पूर्ति करती हैं; अतएव उनमें किसी भी प्रकार का विरोध नहीं है। किन्तु अन्य प्रादेशिक भाषाओं की अपेक्षा संस्कृत की देन बहुत अधिक है। स्वामीजी कहते थे, "संस्कृत की ध्वनि मात्र ही जाति को शक्ति, क्षमता और प्रतिष्ठा प्रदान करती है।" रामानुज, कबीर और चैतन्य का उदाहरण देते हुए उन्होंने बताया कि यद्यपि इन महापुरुषों ने निम्नवर्ग को ऊपर उठाया, किन्तु उन्होंने संस्कृत विद्या का प्रसार नहीं किया। उन्होंने कहा, "बुद्ध तक ने एक गलत कदम यह ले लिया कि

उन्होंने जनता को संस्कृत भाषा सीखने के लिए उत्साहित नहीं किया। यदि आप प्रादेशिक भाषा में जनसामान्य को शिक्षा प्रदान करते हैं तथा विचारों से अवगत कराते हैं, तो वे केवल जानकारी ही प्राप्त कर पायेंगे। किन्तु केवल यही अलम् नहीं है। उन्हें संस्कृति भी प्रदान करने की आवश्यकता है। समाज भले ही विकसित और उन्नत हो जाय, पर जब तक जनसामान्य में संस्कृत भाषा का प्रसार नहीं किया जाता, तब तक समाज की विकसित अवस्था में स्थायित्व नहीं आ सकता।" संस्कृत पुरातन विद्या का कोष है। वह मानवजाति के सबसे उदात्त विचारों की विग्रह है। जो व्यक्ति इसमें दीक्षित नहीं हैं, वे इसकी सशक्तता और गम्भीरता का तनिक भी परिचय नहीं पा सकते। यह हमें केवल हमारी प्राचीन महानता का ही ज्ञान नहीं करा सकती अपितु हममें वह श्रद्धा और आत्मविश्वास भर सकती है, जो आज विदेशी प्रशासन और अराष्ट्रीय शिक्षा-प्रणाली के कारण जड़ से हिल गये हैं। भारतीय संस्कृति और संस्कृत एक दूसरे के पर्याय हैं।

कला का अर्जन:-हमें जीवन की जटिलता और दुर्वहनीयता के बीच में पड़कर अपनी कला को विस्मृत नहीं कर देना चाहिए। स्वामी विवेकानन्द इस विषय पर भी हमें अपना सुझाव देना नहीं भूले। वे कहते हैं, "एशियावासियों की आत्मा ही कलामय है। एशियावासी किसी भी कलारहित वस्तु का उपयोग नहीं करते। क्या नहीं जानते कि कला हमारे लिए धर्म का ही एक अंग है?" उन्होंने चित्रखचित पात्रों, नयनाभिराम साड़ियों तथा कलात्मक धोतियों की

और अपने श्रोताओं का ध्यान आकर्षित करते हुए उन्हें दीन-हीन कृषक की मिट्टी से बनी झोपड़ियों तथा अनाज रखने की कोठियों तक में कलाभिरुचि का दर्शन कराया और बताया कि हमारी स्थापत्य-कला किसी अनजान कारीगर के सपनों की प्रस्तरमयी विग्रह है। जैसे पश्चिम का आदर्श उपयोगिता है, वैसे ही भारत का आदर्श कला है। स्वामीजी का विचार था कि जापान में पश्चिमी उपयोगिता और भारतीय कला का सुन्दर समन्वय घटित हुआ है, जबकि भारत मूर्खता-पूर्वक पाश्चात्य उपयोगितावाद के अन्धानुकरण का प्रयत्न कर रहा है। वे चाहते थे कि भारत में भी दोनों का सुन्दर समन्वय हो।

शिक्षा की आध्यात्मिक भित्तिः-पूर्णतःधर्म-निरपेक्ष शिक्षा-प्रणाली का स्वामीजी ने अनुमोदन नहीं किया। उनका कथन था, "हमारी शिक्षा, बुद्धि और हमारे विचार पूर्णतः आध्यात्मिक हैं और वे सभी, धर्म में अपनी पूर्णता पाते हैं। पश्चिम में उनकी अभिव्यक्ति बाहर में है—भौतिक और सामाजिक स्तरों पर है।" व्यक्ति के समान राष्ट्र की भी अपनी एक विशिष्ट प्रतिभा होती है और उसके विकास का एक विशेष मार्ग होता है। भारत में धर्म ही उसका प्राण केन्द्र है। एक अवसर पर उन्होंने भविष्यवाणी की थी कि यदि भारत राजनीति के लिए धर्म का परित्याग करेगा तो उसकी मृत्यु हो जायगी। हमारी राष्ट्रीय परम्पराओं और मूल्यों की प्रवहमानता के प्रति स्वामीजी के प्रेम का उल्लेख करती हुई भगिनी निवेदिता अपने 'द मास्टर एज़ आइ सा

हिम' नामक ग्रन्थ में लिखती हैं, "स्वामीजी के लिए प्रत्येक नवीन वस्तु प्राचीन निवेदन के भाव से शुद्ध की हुई थी। भगवती सरस्वती का चित्र आँकना, स्वामीजी के अनुसार, 'उसकी पूजा करना' था। चिकित्सा-शास्त्र का अध्ययन करना मानो 'घुटने टेककर रोग और मलीनता के पिशाचों के नाश के लिए प्रार्थना करना' था...। धार्मिक एकाग्रता की शक्ति के लिए मानवीय मेधा को उसकी चरम पूर्णता के स्तर पर पहुँचा देना, उनके विचार से, एक आवश्यक तत्त्व था। वे अध्ययन को तपस्या मानते थे और हिन्दुओं की ध्याना-न्मुखता को वैज्ञानिक अन्तर्दृष्टि की उपलब्धि में सहायक समझते थे।" इस प्रकार शिक्षा स्वयं में एक साधना और धर्म का एक अंग है और स्वामीजी के विचार से धर्म निरपेक्ष और धर्मोपेत शिक्षा का अलग-अलग रहना सम्भव नहीं है।

शारीरिक बल की अनिवार्यता:-स्वामी विवेका-नन्द शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक बल को अत्यधिक आवश्यक समझते थे। इसीलिए शारीरिक व्यायाम की आवश्यकता पर जोर देना वे न भूले। अपने शिष्य के साथ वार्तालाप करते हुए उन्होंने कहा था, "तुम्हें शरीर को अत्य-धिक शक्तिशाली बनाने की विधि जाननी चाहिए और उसकी शिक्षा दूसरों को भी देनी चाहिए। क्या तुम मुझे अभी भी प्रतिदिन डम्बेल्स के साथ व्यायाम करते हुए नहीं देखते? शरीर और मन दोनों को समान रूप से शक्तिशाली बनाना होगा।......यदि लोगों को शारीरिक बल बढ़ाने की आवश्य कता समझा दी जाय, तो वे स्वयमेव उसके लिए प्रयत्न करने

लगेंगे। इस आवश्यकता की प्रतीति के लिए ही आज शिक्षा का प्रयोजन है।" उपनिषद् कहते हैं, 'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः'—दुर्बल व्यक्ति आत्मा का साक्षात्कार नहीं कर सकता। जबकि शंकराचार्य प्रस्तुत सन्दर्भ में 'बलहीन' का अर्थ 'ब्रह्मचर्यहीनता' मानते हैं, स्वामीजी तो यहाँ तक कह गये हैं कि "शरीर से दुर्बल व्यक्ति आत्मसाक्षात्कार के योग्य नहीं है।" स्वामीजी अपने देशवासियों को सशक्त और सबल स्त्री-पुरुषों के रूप में देखना चाहते थे और उन्होंने अनेक प्रसंगों में अपनी इस आन्तरिक इच्छा को अभिव्यक्त किया है। "मेरे तरुण मित्रो, बली बनो। मेरी तुम्हें यही सलाह है। तुम गीता के अध्ययन की अपेक्षा फुटबाल के द्वारा स्वर्ग के अधिक समीप पहुँच सकोगे।"

शिक्षा—जीवन-संघर्ष की एक तैयारीः—

हमारी पचवर्षीय योजनाएँ, दरिद्रता के उन्मूलन का प्रयास तथा जीवन-स्तर को ऊँचा करने के हमारे प्रयत्न—ये समस्त स्वामीजी के विचारों के अनुकूल हैं। इन्हीं कारणों से स्वामीजी इस बात के लिए व्यग्र थे कि भारतवासी तकनीकी और विज्ञान की शिक्षा प्राप्त करें, पर वे यह नहीं चाहते थे कि हम इस भौतिक लाभ के लिए अपनी प्राचीन आध्यात्मिकता से वंचित हो जायँ। उन्होंने अपने एक शिष्य से कहा था, "तुममें एक सुई बनाने तक की तो क्षमता है नहीं, और अँगरेजों की आलोचना करने की धृष्टता करते हो! मूर्ख, जाओ, उनके पैरों के पास बैठो और उनसे उन कलाओं, उद्योगों और व्यावहारिकता को सीखो, जो जीवन-संघर्ष के लिए

आवश्यक हैं।" एक दूसरे प्रसंग में उन्होंने कहा था, "आज की यह उच्च शिक्षा रहे या बन्द हो जाय, इससे क्या बनता-बिगड़ता है? वह अधिक अच्छा होगा यदि लोगों को थोड़ी तकनीकी शिक्षा मिल सके, जिससे वे नौकरी की खोज में इधर-उधर भटकने के बदले, किसी काम में लग सकें और जीविकोपार्जन कर सकें।" इस प्रकार हम देखते हैं कि स्वामीजी आधुनिक जीवन धारा के प्रति एक उदार दृष्टिकोण रखते थे। वे भारत के नितान्त संरक्षणशील और कट्टर-विचार-पोषकों की भाँति उसका अकारण विरोध नहीं करते थे। हाँ, पश्चिम के औद्योगीकरण के दोष वेदान्त के आलोक द्वारा लाघव किये जा सकते हैं, पर समय के चक्र को लौटाना सम्भव नहीं है; और न यही उचित है कि आज, जब विश्व विज्ञान और तकनीक (technology) के क्षेत्रों में इतने वेग से प्रगति कर रहा है, हम बैलगाड़ी और ग्राम्य अर्थ-व्यवस्था के युग में वापस चले जायँ। स्वामीजी ने निश्चयात्मक स्वर में कहा है, "जो शिक्षा-प्रणाली जनसाधारण को जीवन-संघर्ष से जूझने की क्षमता प्रदान करने में सहायक नहीं होती, जो मनुष्य के नैतिक बल का, उसकी सेवा की वृत्ति का, उसमें सुप्त केसरीतुल्य साहस का विकास नहीं करती, वह भी क्या 'शिक्षा' नाम के योग्य है?"

शिक्षा को रचनात्मक होना चाहिए:—शिक्षा-प्रणाली के विषय में स्वामीजी का यह दृढ़ मत था कि प्राचीन गुरु-गृहवास की प्रथा को, आधुनिक सन्दर्भ में संशोधित-परिवर्धित करके, लड़के और लड़कियाँ दोनों के

लिए लागू करना चाहिए। उनका कथन था कि 'छात्र को बाल्यावस्था से ही ऐसे व्यक्ति के संसर्ग में रहना चाहिए, जिसका चरित्र ज्वलन्त अग्नि के समान पवित्र है।' उनका विचार था कि एकमात्र जीवन ही सबसे उत्तम शिक्षक है; क्योंकि पवित्र जीवन का प्रत्यक्ष उदाहरण ही मनुष्य में निहित प्रसुप्त दैवत्व का विकास करता है। उन्होंने इस तथ्य को गम्भीरतापूर्वक प्रतिपादित किया कि 'यदि देश के बच्चों की शिक्षा का भार फिर से त्यागी और निःस्पृह व्यक्तियों के कन्धों पर नहीं आता, तो भारत को दूसरों की पादुकाओं को सदा-सदा के लिए अपने सिर पर ढोते रहना होगा।' वे चाहते थे कि प्राचीन काल के समान ही सभी विद्यार्थी कठोर ब्रह्मचर्य का पालन करें, जिससे उनके हृदय में श्रद्धा उत्पन्न हो सके। मनसा वाचा कर्मणा ब्रह्मचर्य का पालन करने से संकल्पशक्ति बढ़ती है। इस प्रकार का ब्रह्मचर्य ही आध्यात्मिक-शक्ति को जन्म देता है और सूक्ष्म दार्शनिक तत्त्वों को समझने की मेधा प्रदान करता है, उसी से वाग्मिता एवं अन्य शक्तियां विकसित होती हैं। स्वामीजी श्रद्धा को मूलभूत धर्म मानते थे। श्रद्धा का निर्माण ध्येय-निष्ठा, विनम्रता, पूज्य भाव और सन्देह के झंझावात में अडिग रहने वाला दृढ़ विश्वास, इन सब गुणों के एकत्र मेल से होता है। उपर्युक्त तथ्यों के बल पर यह स्वाभाविक रूप से निष्कर्ष निकलता है कि स्वामीजी आधुनिक आलंकारिक एवं अवसादमयी शिक्षा की कामना नहीं करते थे, अपितु उन्हें गत्यात्मक एवं रचनात्मक शिक्षा की अपेक्षा थी। जब

तक वर्तमान शिक्षा-प्रणाली में नवीन प्राण-शक्ति का संचार नहीं किया जाता, तब तक भारत के नवनिर्माण की दिशा में प्रयत्न करना सम्भव नहीं है।

शिक्षा का भारतीय आदर्श :-शिक्षा का भारतीय आदर्श मन का वह नियंत्रण है, जिससे हम उसे जहाँ चाहें ठीक वहीं लगा सकें। एकाग्रता की प्राप्ति उत्तम तो है, पर जब तक उसके साथ हममें अनासक्ति की भी शक्ति नहीं आती तब तक सम्भव है कि वह हमें कठिनाइयों के आवर्त में डाल दे। स्वामीजी कहते हैं, "मैं शिक्षा का मूल, तथ्यों के सग्रह को नहीं अपितु एकाग्रता को मानता हूँ। यदि मुझे पुनः शिक्षा प्राप्त करनी होती, तो मैं एकाग्रता और अनासक्ति, दोनों की शक्तियों को विकसित करता और तब उस मन रूपी निर्दोष यंत्र की सहायता से इच्छामात्र से ही तथ्यों का संग्रह कर लेता।" यहाँ पर पाश्चात्य शिक्षाप्रणाली द्वारा योग-मनोविज्ञान के अनुशासनों का लाभदायक उपयोग किया जा सकता है।

अन्त में, यह कहना अप्रासंगिक न होगा कि आधुनिक शैक्षणिक मनोविज्ञान की प्रणाली में शिशु के व्यक्तित्व के प्रति जो सम्मान का तथ्य पाया जाता है, वह अभी-अभी शुरू हुआ है, जबकि भारतीय वेदान्त कल्पनातीत काल से इस तथ्य से परिचित था। उस समय शिक्षा यथासम्भव व्यक्तिपरक थी। सारा ज्ञान मनुष्य में निहित है। यही क्यों, एक बालक में भी समग्र ज्ञान प्रच्छन्न रूप से विद्यमान है। शिक्षक का कर्तव्य केवल यह है कि वह उस प्रच्छन्न ज्ञान के

विकास की बाधाओं को दूर कर दे और अपने विद्यार्थियों को यह सिखा दे कि अपने हाथ, पैर, नेत्र और कानों का समुचित उपयोग करने के लिए वे अपनी बुद्धि से किस प्रकार काम लें।

भारतीय समाज में बौद्धिक वर्ग को एक सुविधापूर्ण स्थान प्राप्त है। पर प्रत्येक सुविधा के साथ उत्तरदायित्व का भाव भी भरा हुआ है। इस संक्रान्ति और उतार-चढ़ाव की अवधि में ही भविष्य अपना रूप निर्मित करेगा। अतः इस देश के प्रत्येक स्त्री-पुरुष का यह पुनीत कर्तव्य हो जाता है कि वह आत्मविकास के लिए ज्ञान का अर्जन करे और उसका दान उन लोगों को भी दे जिन्हें उसकी आवश्यकता है। कलियुग में दान को सर्वश्रेष्ठ धर्म की संज्ञा दी गयी है। हम ज्ञान से भी मूल्यवान और किस वस्तु का दान कर सकते हैं? गत्यात्मक और सर्जनशील ज्ञान के दान से दाता और पात्र दोनों का ही उत्थान होता है। इसी दान के माध्यम से भारतवर्ष उस गौरवमय युग को प्राप्त कर सकता है, जिसके अवतरण की घोषणा स्वामी विवेकानन्द कर गये हैं।

—'रामकृष्ण मिशन इन्स्टीट्यूट आफ कल्चर बुलेटिन' से साभार।

———

स्वामी विवेकानन्द और भारतीय नवजागरण

—स्वामी आत्मानन्द—

भारत का राष्ट्रीय जागरण सर्वदा से धर्म के पुनरुद्धार से सम्बन्धित है। प्राचीन युग से ही हम देखते हैं कि गुरुकुलों और तपोवनों ने, आध्यात्मिक विचार-धारा और संस्कृति के केन्द्रों ने राष्ट्र की जीवन-धारा को नियमित और सुनियोजित करने में महत्त्वपूर्ण भाग लिया है। वह चाहे काश्यों और मैथिलों का पुराना युग रहा हो, चाहे अशोक या विजयनगर के साम्राज्य का काल रहा हो, चाहे अर्वाचीन युग में बंगाल के पुनर्जागरण का अथवा सिखों और मराठों के शासन का समय रहा हो, हम इसी एक नियम को कार्यरत देखते हैं—वह यह कि धर्म का पुनरुद्धार ही राष्ट्रीय चेतना के अवरुद्ध स्रोत को खोल देता है। भारत के जीवन और संस्कृति पर, उसकी ललित कलाओं और प्रथाओं पर, उसके दृष्टिकोण और साहित्य पर धर्म की विशेष छाप रही है। धर्म वह भित्ति है, जिस पर भारतराष्ट्र निर्मित हुआ है। शत-शत शताब्दियों से बहती चली आयी भारत की इस जीवनधारा के सम्बन्ध में जरा सोच देखिए। आपके मनश्चक्षु के सामने क्या आता है?—एक महान् संस्कृति, एक महान् नैतिक और आध्यात्मिक आदर्श। धर्म भारत के राष्ट्रीय जीवन का

बीज है। इतिहास हमें बताता है कि हूण और शक, यूनानी और पारथी, अरब और मंगोल भारत आये, भारत पर आक्रमण किया, इस देश को विजित किया, पर वे इसके जीवन-बीज को नष्ट न कर सके। पुराण कहते हैं कि अभीरों और बह्लिकों ने इस देश की महती संस्कृति को रौंदने का प्रयत्न किया, पर तो भी भारत-राष्ट्र का धर्म-बीज अक्षुण्ण ही बना रहा। यही कारण है कि सहस्र वर्ष की दासता के बावजूद भी आज यह देश जीवित है। राख में ढकी अग्नि के समान अभी भी उसके जीवन-बीज के प्राणतत्त्व स्पन्दित हो रहे हैं।

भारत का यह महान सौभाग्य रहा है कि जब-जब उस पर विपत्तियाँ आयीं, अधर्म और अनाचार के काले बादल उसके मानस पर छा गये, तब-तब महापुरुषों का आविर्भाव हुआ और वे अपने चरित्र के बल पर इन काले बादलों को छिन्न-भिन्न करने में समर्थ हुए। उन्नीसवीं शताब्दी का काल भारत के लिए एक ऐसा ही विकट समय था। पाश्चात्य जगत् को अपनी युक्तियों और उपलब्धियों द्वारा चकित कर देनेवाले विज्ञान की अनुभूतियों ने पाश्चात्य देशों की धार्मिक मान्यताओं को जड़ से हिला दिया था। विज्ञान का यह क्रान्तिकारी प्रकाश भारत में भी आया! कलकत्ता नगरी पाश्चात्य शिक्षा का प्रथम केन्द्र बनी। इस शिक्षा के प्रभाव से नवयुवक एक नवीन युग में साँसें लेने लगे। भारतीय धर्म और संस्कृति तिरस्कृत होने लगी। अतः भारत में एक नवीन समस्या का सूत्रपात हुआ। वह समस्या थी—दो विचार-

धाराओं की मुठभेड़। एक ओर थी प्राचीन कट्टरपन्थी, सनातनी, संरक्षणशील विचारधारा, जिसने इस बृहत, व्यापक हिन्दू धर्म को कतिपय क्रिया-अनुष्ठानों के भीतर बाँधकर सीमित, एकांगी और 'छुआछूत'—धर्म का पर्यायवाची बना दिया था। और दूसरी ओर थी नवीन, पाश्चात्य-भावापन्न, भौतिकवादी विचारधारा, जिसने अपने प्रशंसकों और समर्थकों को सिखाया कि हिन्दू धर्म 'crystallised immorality' (घनीभूत अनैतिकता) है, कूड़ा-कर्कट और बकवास है, बुतपरस्त है, जंगलियों और बर्बरों का वीभत्स अन्धविश्वास है। इस भौतिकवादी विचारधारा के अन्तर्गत वे भी जन थे, जो अपने आपको ईसा मसीह के अनुयायी कहते थे और जो अपने देश में ईसाई धर्म को विज्ञान की रोशनी के कारण धूल चाटते देख, ईसा का महान सन्देश लेकर भारतवर्ष भाग खड़े हुए थे! उनकी जेबें अँग्रेजों और उनके गोरी चमड़ीवाले अन्य भाइयों के द्वारा इसलिए गर्म की जाती थीं कि वे भारत के सम्बन्ध में अपनी सारी कल्पना-शक्ति की सहायता लेकर वीभत्स से वीभत्स लेख लिखें—दहलाते हुए लेख, बर्बरता की चरम सीमा पर पहुँचे हुए मानवाकार पशुओं पर लेख—जिससे पश्चिम के देशवासी बर्बर और नृशंस भारतवासियों पर अपनी करुणा और दयालुता की वर्षा कर सकें! और कैसा वीभत्स चित्रण इन पर-मुखापेक्षी, ईसाई पादरियों ने भारतवर्ष के सम्बन्ध में किया था! इसकी कुछ कल्पना मेरी लुईस बर्क लिखित गवेषणापूर्ण 'Swami Vivekananda in America-

New Discoveries' नामक ग्रन्थ को पढ़ने से हो सकती है। इस विदुषी अमरीकन महिला ने अपने उक्त ग्रन्थ में चार चित्र छापे हैं। ये चित्र उन प्रवेशिकाओं से लिये गये हैं, जो अमरीका में स्वामी विवेकानन्द के युग में चलती थीं। तात्पर्य यह कि अमरीकन बच्चा अपनी पढ़ाई की शुरुआत भारत सम्बन्धी इन चित्रों को देखकर और चित्रों के नीचे लिखी गयी कविताबद्ध पंक्तियों को रटकर करता था। ये चित्र किस प्रकार के हैं ? पहले चित्र में दर्शाया गया है कि एक भारतीय माता अपने छोटे शिशु को लेकर नदी के किनारे खड़ी है। कई मगर मुँह बाये खड़े हैं और वह माता अपने बच्चे को प्रसन्नतापूर्वक मगर के मुँह में डाल दे रही है। उस चित्र के नीचे कविताबद्ध पंक्तियाँ निम्नोक्त हैं—

See that heathen mother stand
Where the sacred current flows ;
With her own maternal hand
Mid the waves her babe she throws.
Hark ! I hear the piteous scream ;
Frightful monsters seize their prey,
Or the dark and bloody stream
Bears the struggling child away.
Fainter now, and fainter still,
Breake the cry upon the ear ;
But the mother's heart is steel
She unmoved that cry can hear.

Send, oh send the Bible there,
Let its precepts reach the heart;
She may then her children spare—
Act the tender mother's part.

—"देखो, देखो, पवित्र जलधारा के किनारे हीदन, (अ-ईसाई) माता खड़ी है और अपने ही हाथों अपने बच्चे को जल की लहरों में फेंक दे रही है। सुनो! मैं उस बच्चे के करुण आर्तनाद को सुन पा रहा हूँ। भयंकर जल-चर उस बच्चे पर झपटते हैं। पानी की खूनी और काली लहरें छटपटाते बच्चे को बहाकर ले जाती हैं। बच्चा छटपटाता है, चिल्लाता है; उसकी आवाज धीरे-धीरे धीमी होती जाती है। माता के कानों पर बच्चे की आवाज पड़ती रहती है। पर उसका हृदय पत्थर का जो है-चुपचाप, बिना विचलित हुए अपने बच्चे की करुण आवाज वह सुन लेती है! अतः उस देश में बाइबिल भेजो। बाइबिल के उपदेश वह सुने तो। सुनने से उसका मातृ-हृदय ठीक कार्य करेगा और वह अपने बच्चों के प्रति इस प्रकार निर्मम न बनेगी।"

यह तो केवल एक चित्र है। इसी प्रकार अन्य तीन चित्रों में भी भारत की बुरी तरह निन्दा की गयी है। यह थी विवेकानन्द के युग की अमरीका। अस्तु।

ये दो विचारधाराएँ थीं, जो आपस में बड़ी तीव्रता के साथ टकरा रही थीं। ऐसे समय में राजा राममोहन राय का अभ्युदय हुआ। नवीन शिक्षा में वे शिक्षित हुए, पर अन्य नवशिक्षितों की भाँति वे भौतिकवादी

विचारधारा में बहे नहीं। उन्होंने पैरों को थामे रखा। उन्होंने देखा कि हिन्दू धर्म की कुछ बातें पादरियों की आँखों में खटकती हैं, इसलिए वे हिन्दू धर्म की निन्दा किया करते हैं। उन्होंने सोचा कि यदि हिन्दू धर्म में कुछ सुधार कर दिये जायँ, हिन्दू धर्म की जिन बातों को पादरीगण नापसन्द करते हैं उन्हें यदि हिन्दू धर्म से निकाल दिया जाय, तो फिर हिन्दू धर्म सुन्दर बन जायगा, पादरी उसकी आलोचना न कर सकेंगे। अतः उन्होंने ब्राह्मसमाज की स्थापना की और एक नवीन ब्राह्म-धर्म का प्रवर्तन किया। इसके मूल में समाज-सुधार की भावना ही काम कर रही थी। पर यह धर्म ईसाई धर्म से कुछ अधिक भिन्न नहीं था। यह ईसाई धर्म की भारतीय कागज पर नकल थी। यही कारण था कि ब्राह्म-धर्म विशाल हिन्दू जनता के बीच अपना स्थान न बना सका। यदि किसी देश को आप जगाना चाहते हैं, तो पहले आपको उसकी विशाल जनता का हृदय टटोलना होगा, जनसमुदाय की इच्छाओं और आकाँक्षाओं को पहचानना होगा और उसके साथ घुलमिल जाना होगा। इसके विपरीत, यदि आप एक नवीन पथ का निर्माण करते हैं तो आपका एक गुट बन जाता है और यह गुट शेष बड़े जनसमुदाय में उचित सुधार की भावना उत्पन्न करने के बदले उससे लड़ने-झगड़ने लगता है। यही दशा ब्राह्म-समाज की भी हुई और इसीलिए अन्ततोगत्वा वह ब्राह्म-आन्दोलन मृतप्राय हो गया। उसी समय के लगभग महाप्राण स्वामी दयानन्द सरस्वती का अभ्युदय हुआ, जिन्होंने आर्यसमाज

की स्थापना की। पर आगे चलकर आर्यसमाज भी सनातन धर्म से लड़ने-भिड़ने में ही अपने कर्तव्यों की इति मानने लगा। उसके रचनात्मक कार्यक्रम शिथिल-से पड़ गये और वह भी एक सम्प्रदाय बनकर रह गया।

तब भारत में एक ऐसे पुरुष की आवश्यकता थी, जो जन-मानस को पहचाने और इस शतशः विखण्डित हिन्दू धर्म की नौका को डूबने से बचा ले। श्रीभगवान् गीता में की हुई प्रतिज्ञा का पुनः निर्वाह करते हैं—"यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत। अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥" इस बार वे आते हैं निरक्षर के रूप में, पर अपने जीवन में विश्व के समस्त शास्त्रों की अनुभूतियों को उतारकर। वे हैं रामकृष्ण परमहंस देव। उनका जीवन ही वेद-स्वरूप है; और विवेकानन्द आते हैं इस जीवन-वेद की टीका बनकर। यदि श्रीरामकृष्ण सच्चे अर्थों में पूर्व के प्रतीक हैं, तो नरेन्द्रनाथ (जो बाद में स्वामी विवेकानन्द के नाम से विख्यात हुए) पश्चिम के। पूर्व और पश्चिम का ऐसा योग ईश्वर की विशेष इच्छा से ही हुआ। और इस योग से ही भारत के नवजागरण का सूत्रपात हुआ।

जब किसी देश में नवजागरण की प्रथम किरणें फूटती हैं, तो उसकी प्रक्रिया–सरिता दो कूलों को छूती हुई बहती है—एक है 'आत्मप्रत्यय' और दूसरा है 'आत्माभिव्यक्ति'। उस देश में सर्वप्रथम आत्मप्रत्यय को जगाना पड़ता है, देशवासियों को उनके अपने गौरव और महिमा की ओर उन्मुख करना पड़ता है। उन्हें इस बात की प्रतीति करानी

पड़ती है कि एक राष्ट्र के रूप में उनका भी विश्व के राष्ट्रों में एक विशेष स्थान है। स्वामी विवेकानन्द ने सबसे पहले यही किया। उन्होंने भारतवासियों में आत्मविश्वास का अत्यन्त अभाव देखा, उनकी हीनता और बेबसी देखी। स्वामीजी ने बड़े दुःख के साथ लक्ष्य किया कि पढ़े-लिखे भारतवासी, जिनसे मातृ-भूमि के उद्धार की कुछ आशा की जा सकती थी, दिन-पर-दिन अँगरेज-मुखापेक्षी होते जा रहे हैं। अतः स्वामीजी ने मेघ-गम्भीर स्वर से भारत के सनातन गौरव का उद्घोष किया, डंके की चोट पर उन्होंने भारत की पुरातन सांस्कृतिक महिमा का गुणगान किया और बताया कि लेन-देन, आदान-प्रदान ही जीवन का नियम है। मनुष्यों का जीवन, राष्ट्रों का जीवन इसी नियम पर चलता है। यदि कोई मनुष्य या राष्ट्र सदा-सर्वदा दूसरों से लेता ही रहे, स्वयं अपनी ओर से उन्हें कुछ न दे, तो वह दासता की चरम सीमा होती है। वह फिर धीरे-धीरे अपना अस्तित्व खो बैठता है। इसी अर्थ में स्वामीजी ने कहा था कि इतिहास जिन प्राचीन राष्ट्रों के गीत गाता है, उनमें भारत को छोड़ शेष सभी अस्तित्वहीन हो गये हैं। यही कारण था कि स्वामीजी ने भारत को चेतावनी दी थी कि भारत! केवल माँगो मत। अँगरेजों का मुँह जोहते मत रहो। अन्य देशों से केवल लेने की ही बात सोचते मत रहो। उन्हें भी अपनी ओर से कुछ दो।

किन्तु प्रश्न यह है कि भारत भला अन्य देशों को क्या दे सकता है। वह तो स्वयं निर्धन है, दरिद्र है, पददलित है,

सभी क्षेत्रों में पिछड़ा हुआ है—वह भला औरों को क्या देगा ? यही आत्मप्रत्यय का अभाव है। स्वामीजी इसी आत्मप्रत्यय को उद्बुद्ध करना चाहते थे। उन्होंने भारतवासियों का ध्यान उनके अपने उस चिरन्तन खजाने की ओर आकर्षित किया जिसे धर्म कहते हैं। भारतवासियों को चेतावनी देते हुए उन्होंने कहा—"तुम्हारा सबसे बड़ा धन यह धर्म है, यह आध्यात्मिकता है। इसी में तुम्हारा कल्याण निहित है। ध्यान रखो, यदि तुम इस आध्यात्मिकता का त्याग कर दोगे और इसे एक ओर रख-कर पश्चिम की जड़वादपूर्ण सभ्यता के पीछे दौड़ोगे, तो परिणाम यह होगा कि तीन पीढ़ियों में तुम एक मृत जाति बन जाओगे, क्योंकि इससे राष्ट्र की रीढ़ टूट जायेगी, राष्ट्र की वह नींव जिस पर इसका निर्माण हुआ है नीचे धँस जायगी और इसका फल सर्वांगीण विनाश होगा।"

स्वामीजी ने भारतवासियों के आध्यात्मिक भाव को जगाते हुए कहा, "अभी भी हमारे पास कुछ ऐसी बातें हैं जिनकी शिक्षा हम संसार को दे सकते हैं। यही कारण है कि सैकड़ों वर्ष तक अत्याचारों को सहने, लगभग हजार वर्ष तक विदेशी शासन में रहने और विदेशियों द्वारा पीड़ित होने पर भी यह देश आज जीवित रहा है। उसके अभी भी अस्तित्व में रहने का कारण यही है कि वह सदैव और अभी भी ईश्वर का आश्रय लिये हुए है, तथा धर्म एवं आध्यात्मिकता के अमूल्य भंडार का अनुसरण करते आया है।" उन्होंने पुनः कहा, "यदि तुम अँग्रेजों या अमरीकनों के बराबर होना

चाहते हो, तो तुम्हें उनको शिक्षा देनी पड़ेगी और साथ ही साथ शिक्षा ग्रहण भी करनी पड़ेगी, और तुम्हारे पास अभी भी बहुतसी ऐसी बातें हैं, जो तुम भविष्य में सैकड़ों वर्षों तक संसार को सिखा सकते हो। यह कार्य तुम्हें करना ही होगा।"

अपने एवंविध जाज्वल्यमान अग्नि-मंत्रों से स्वामीजी ने भारतवासियों की प्रसुप्त राष्ट्रीय चेतना में जागरण के बीज बो दिये। स्वामीजी जानते थे कि हमारे देशवासी इतने परमुखापेक्षी हो गये हैं कि जब तक इंग्लैण्ड या अमरीका या यूरोप किसी बात की प्रशंसा नहीं करता, तब तक देशवासी भी उस बात के प्रति उदासीन रहते हैं। यही कारण था कि स्वामीजी अमरीका गये– शिकागो में होनेवाली सर्वधर्मपरिषद् में भाग लेने के लिए। वह भी एक लम्बा इतिहास है। अपने आपको धर्म का ठेकेदार माननेवाले धर्मध्वजियों ने हिन्दू धर्म को डुबो देने का किस प्रकार उपक्रम किया था यह गम्भीर रूप से सोचने की बात है। स्वामीजी सात समुद्र पार करके धर्म का प्रचार करने अमरीका जाने वाले हैं, जब यह बात ऐसे ही किसी धर्म के ठेकेदार को मालूम पड़ी, तो वह अपनी चोटी फटकारते हुए स्वामीजी से कहने लगा, "नहीं, आप अमरीका नहीं जा सकते, हमारा धर्म ऐसी आज्ञा नहीं देता। यदि आप शास्त्राज्ञा का उल्लघंन करेंगे तो आपको जातिच्युत कर दिया जायगा।" स्वामीजी ने व्यंग के स्वर में कहा था, "पण्डितजी, आप लोगों की इसी मूर्खता और धर्म की भ्रान्ति ने भारत को डुबो

दिया है। संन्यासी सब जातियों से ऊपर उठा हुआ होता है, उसे जातिच्युत करने का क्या तात्पर्य ?" और आप जानते हैं, पाठक ? शिकागो की उस सर्व-धर्म-परिषद् में विश्व के समस्त धर्मों के प्रतिनिधि भाग लेने और अपने-अपने धर्म की श्रेष्ठता सिद्ध करने आये थे। पर हाय रे हतभाग्य हिन्दू धर्म ! तेरे ठेकेदारों ने तेरा कोई प्रतिनिधि भेजने की आवश्यकता न समझी ! भला समझते भी क्यों ? यदि कोई प्रतिनिधि भेजा जाता, तो वह जातिच्युत न कर दिया जाता ?—फिर बाद में भले ही वह सदा-बुभुक्षु, तूँबे के-से फूले हुए उदर-वाले धर्मध्वजी पाखण्डियों का पेट भरने पर जाति में वापस ले लिया जाता ! हिन्दू धर्म की यही कहानी है ! यह था विवेकानन्द का युग ! पाठक, जरा गौर करें। भारत की, अपने घर में यह दशा थी और विदेशियों के बीच हमारी क्या स्थिति थी इसका चित्रण मैं पहले ही कर चुका हूँ। वह तो भारत के भगवान् थे जो अनेकविध बाधाओं और विपत्तियों के बावजूद भी विवेकानन्द के हृदय में अमरीका जाने की प्रेरणा भरते हैं। कन्याकुमारी का वह "विवेकानन्द रॉक' (शिलाखण्ड) भारतीय नवजागरण के इतिहास में अमर रहेगा, क्योंकि उसी पर बैठकर विवेकानन्द ने हृदय में नवजागरण की समूची प्रक्रिया के दर्शन किये थे, वहीं पर भारत की सोयी हुई राष्ट्रीय चेतना ने करवट बदली थी, वहीं पर भारत के नवजागरण का सूत्रपात हुआ था।

यह था आत्मप्रत्यय का रास्ता, जिसे विवेकानन्द ने प्रशस्त किया। पर केवल आत्मप्रत्यय से ही नहीं होता,

अपनी महिमा को पहचान लेने में ही काम नहीं बनता, उसे पुनः प्रकट करना पड़ता है। पहले अपनी कार्यशक्ति की पहचान और फिर उसका प्रकटीकरण। इसीलिए स्वामीजी ने भारतवासियों के आत्मप्रत्यय को जगाकर उन्हें आत्माभिव्यक्ति की प्रेरणा दी। आत्माभिव्यक्ति के बिना आत्मप्रत्यय सुखद सपनों का नीड़ है, एक सुनहला पिंजड़ा है, जिसमें राष्ट्रीय चेतनारूपी पक्षी को बन्द कर दिया गया हो। यही कारण था कि स्वामीजी ने भारत की गरिमा का कोरा गान ही नहीं किया, प्रत्युत उन्होंने उस गरिमा की पुनः प्राप्ति के मार्ग को प्रशस्त किया। भारत की आत्माभिव्यक्ति के लिए उन्होंने भारतवासियों के सम्मुख पाँच उपाय रखे:—

(१) धर्म का यथार्थ स्वरूप

धर्म के यथार्थ स्वरूप को पहचानना। धर्म कतिपय क्रिया-अनुष्ठानों में समाया हुआ नहीं है वरन् वह तो धारण करनेवाला तत्त्व है। स्वामीजी ने 'धर्म' शब्द की बड़ी सुन्दर व्याख्या की। 'धृ' धातु से व्युत्पन्न यह 'धर्म' शब्द अँगरेजी के 'religion' शब्द का पर्यायवाची नहीं है। अँगरेजी में यदि कोई शब्द इस 'धर्म' शब्द के अर्थ के कुछ निकट पहुँचता है, तो वह है, 'integration'। अतः धर्म वह है, जो पूर्ण बनाये, अलगाव की प्रवृत्ति को दूर करे और मानव-समाज को अखण्डता की डोर में गूँथ दे। धर्म के इस उदार, व्यापक अर्थ का अनुशीलन करने पर धर्मों की आपसी लड़ाई आप ही दूर हो जायगी। स्वामीजी ने धर्म की अनुभूति पर विशेष बल दिया। वे कहते थे, "जिस प्रकार

'भोजन, भोजन' चिल्लाने और उसे खाने तथा 'पानी, पानी' कहने और उसे पीने में बहुत अन्तर है, उसी प्रकार केवल 'ईश्वर, ईश्वर' रटने से हम उसका अनुभव करने की आशा नहीं कर सकते। हमें उसके लिए प्रयत्न करना चाहिए, साधना करनी चाहिए।" यथार्थ धर्म हमें आत्मविश्वासी बनाता है, हमारी अन्तर्निहित अनन्त शक्ति को प्रबुद्ध कर देता है। तभी तो स्वामीजी ने कहा था, "आत्मविश्वास, आत्मविश्वास! जो अपने आप में विश्वास नहीं करता, वह नास्तिक है। प्राचीन धर्मों ने कहा है, वह नास्तिक है जो ईश्वर में विश्वास नहीं करता। नया धर्म कहता है, वह नास्तिक है जो अपने आप में विश्वास नहीं करता।"

(२) अभ्युदय और निःश्रेयस्

अभ्युदय और निःश्रेयस् पर समान बल देना। स्वामीजी ने बताया कि हम संसार को बिना समझे-बूझे मिथ्या-मिथ्या कहते रहे। इसी का परिणाम हमारा यह अधःपतन है। उन्होंने भौतिकता पर जोर दिया। वे कहते थे कि आज भारत को रजोगुण की आवश्यकता है। सत्त्वगुण की दुहाई देते हुए, धर्म की आड़ में आज भारतवासी घने तमोगुण में बैठे हुए हैं। अतः स्वामीजी ने भारतीय नव-जागरण के लिए यह अनिवार्य देखा कि बाहर की अच्छी बातों को हम सीखें, जिससे हमारा रहन-सहन कुछ सुधर सके। वे कहते थे कि जैसे पक्षी एक पर से नहीं उड़ सकता, उसे उड़ने के लिए दोनों परों की आवश्यकता है, वैसे ही किसी भी देश को ऊपर उठने के लिए अभ्युदय और निःश्रेयस्

रूपी दोनों पंखों की आवश्यकता होती है। केवल एक के सहारे देश नहीं उठ सकता।

(३) दूसरों की सेवा ही धर्म

धर्म केवल व्याख्यानों और प्रवचनों तक ही सीमित न रहे, वरन् वह सेवा के रूप से प्रकट हो। भारतवासियों की बेबसी और दुःख-दर्द स्वामीजी की आँखों से छिपा नहीं था। वे भूखे पेट वालों के समक्ष धर्म की चर्चा करना एक भीषण पाप समझते थे। पर भारत ऐसा ही करता चला आ रहा था। सामने लोग भूख और प्यास से छटपटा कर मर रहे हैं, शीत से ठिठुर-ठिठुरकर दम तोड़ रहे हैं, साम्राज्यवादियों के नृशंस अत्याचारों का शिकार हो रहे हैं, पर धर्म का ठेकेदार आँखें मूँदकर भगवान के ध्यान में (?) चित्त को रमाता हुआ चीखता है—'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या'! स्वामीजी को ऐसे व्यक्तियों से बेहद चिढ़ थी। तभी तो उन्होंने हृदय के आवेग में कहा था–'I do not believe in a religion that cannot wipe the widow' s tears and stop the orphan's wails'–"मैं ऐसे धर्म में विश्वास नहीं करता जो विधवाओं के आँसू पोंछने में समर्थ नहीं हैं; मैं ऐसे धर्म का विश्वासी नहीं हूँ जो अनाथ बालक के करुण रुदन को चुप नहीं करा सकता!"

स्वामीजी के इन उद्गारों से स्पष्ट है कि वे धर्म को जीवन में सेवा के रूप से उतरा हुआ देखना चाहते थे। उनका कहना था कि यदि एक भूखे के पास तुम धर्म को ले जाना चाहते हो, तो प्रवचन या शास्त्रग्रंथों के रूप में न

ले जाओ, बल्कि ले जाओ रोटी के टुकड़े के रूप में। उसी प्रकार, नंगे मनुष्य के पास धर्म वस्त्र के टुकड़े के रूप में पहुँचे। 'शिव-ज्ञान से जीव-सेवा' यही स्वामीजी का नारा था, जो उन्होंने अपने गुरुदेव के चरणों में बैठकर सीखा था। तभी तो उन्होंने अपनी मातृभूमि के नवजागरण के हेतु कार्य करने के लिए एक नवीन संन्यासी-सम्प्रदाय का गठन किया, जो रामकृष्ण मिशन के नाम से विश्व में प्रसिद्ध है। स्वामीजी ने उसमें मंत्र फूँका—आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च'—'अपनी मुक्ति के लिए, जगत् के कल्याण के लिए'।

(४) नारी का सम्मान

नारी को उसके प्राप्त अधिकारों से वंचित न रखना। नारी के प्रति समादर और पूजा का भाव जागृत करना। स्वामीजी ने बताया कि पाश्चात्य देश आज जो इतने उन्नत हुए हैं, वह केवल उनकी नारी के प्रति समादर की भावना का फल है। नारी पाश्चात्य देशों में हेय नहीं है, उपेक्षिता और परित्यक्ता नहीं है, वह स्वतंत्र है, उसे समान अधिकार प्राप्त हैं, पुरुष नारी के प्रति आदर का भाव व्यक्त करता है। यही कारण है कि उन देशों में इतनी प्रगति हुई है। पर यहाँ भारत में नारी पुरुष की दासी है, उपभोग्या है, बच्चा पैदा करनेवाली मशीन है। इसलिए भारत अधःपतित हुआ है। स्वामीजी कहते थे कि वेद-काल में नारी स्वतंत्र थी, उसे पुरुष के ही समान अधिकार प्राप्त थे। वह वेदों का अध्ययन करती थी, शास्त्रार्थ करती थी, उसका उपनयन-संस्कार

होता था। वह भारत का स्वर्ण-युग था। धीरे-धीरे नारी को बाँधने के प्रयत्न हुए और आज वह शृंखलाओं में एकदम जकड़ी हुई, नितान्त असहाय, पुरुषमुखापेक्षी, भीरु और भामिनी बनकर रह गयी है। स्वामीजी ने कहा कि जब तक भारत में नारी का उत्थान नहीं होता, तब तक देश की दुर्दशा दूर न होगी। इसीलिए वे देश के नवजागरण के लिए यह अनिवार्य समझते थे कि नारी जागृत हो, वह अपनी समस्याओं को पहचाने और स्वयं उनका हल ढूँढ़ निकाले। स्वामीजी को यह बात बिल्कुल पसंद न थी कि नारी की समस्याओं को सुलझाने में पुरुष अपना हाथ डाले! इसीलिए एक बार जब किसी ने स्वामीजी से पूछा कि आप विधवा-समस्या को कैसे हल करेंगे, तो स्वामीजी चुप रहे। दूसरी बार भी चुप। पर तीसरी बार जब प्रश्नकर्ता ने अपने प्रश्न को दुहराया, तो स्वामीजी उस पर बरस पड़े, "क्या मैं विधवा हूँ, जो मुझसे यह प्रश्न करते हो? वे (स्त्रियाँ) स्वयं अपनी समस्याओं को सुलझा लेंगी। उन्हें सोचने और करने की स्वतंत्रता दो, उनके मार्ग की बाधाओं को दूर कर दो। शेष वे स्वयं कर लेंगी।"

स्वामीजी बारम्बार मनु महराज के निम्नोक्त श्लोक का उदाहरण दिया करते थे–'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः। यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः॥'—'जहाँ पर नारी का सम्मान होता है, वहाँ देवता निवास करते हैं, और जहाँ वह सम्मानित नहीं होती, उसकी अवज्ञा और उपेक्षा होती है, वहाँ देश की उन्नति के लिए बनायी गई सारी

योजनाएँ असफल हो जाती हैं।

(५) राष्ट्रदेवता की भक्ति

राष्ट्रदेवता के प्रति भक्ति को स्वामीजी ने आत्माभिव्यक्ति के पाँचवें उपाय के रूप में रखा। उन्होंने देश के नवयुवकों में महान प्रेरणा भरते हुए कहा, "आगामी पचास वर्षों के लिए हमारा केवल एक ही विचारकेन्द्र होगा—और वह है हमारी महान मातृभूमि भारत। (ये उद्गार स्वामीजी ने सन् १८९९ ई० के लगभग प्रकट किये थे। और कैसा आश्चर्य है कि हमें इस ५० वर्ष के भीतर ही स्वतंत्रता प्राप्त हो गयी!) दूसरे सब व्यर्थ के देवताओं को उस समय तक के लिए हमारे मन को लुप्त हो जाने दो। हमारा राष्ट्र-पुरुष केवल यही एक देवता है, जो जाग रहा है, जिसके हर जगह हाथ हैं, हर जगह पैर हैं, हर जगह कान हैं—जो सब वस्तुओं में व्याप्त है। दूसरे सब देवता सो रहे हैं। हम क्यों इन व्यर्थ के देवताओं के पीछे दौड़ें, और उस देवता की—उस विराट की-पूजा क्यों न करें, जिसे हम अपने चारों ओर देख रहे हैं ? जब हम उसकी पूजा कर लेंगे, तभी हम दूसरे देवताओं की पूजा करने योग्य बनेंगे।" स्वामीजी का समूचा व्यक्तित्व भारतीयता के तानों-बानों से बुना था। पर इसका तात्पर्य यह नहीं कि वे सीमित थे या उनकी भावनाएँ संकुचित थीं। इसके विपरीत, उनका हृदय समूची मानवता के लिए स्पन्दित होता था। पर वे अपनी मातृभूमि की गिरी अवस्था के प्रति विशेष सजग थे। देश में राष्ट्रीय चेतना का अभाव देखकर वे बड़े दुखित होते थे। इसीलिए भारतवासियों के

हृदय में अपनी मातृ-भूमि और अपने देशभाइयों के प्रति प्रेम का बीज बोते हुए उन्होंने पुत्रवत् स्नेह से उन लोगों को सम्बोधित करते हुए कहा था, "मत भूलो कि नीच, अज्ञानी, दरिद्र, चमार और मेहतर तुम्हारा रक्त और तुम्हारे भाई हैं। ऐ वीर! साहस का आश्रय लो। गर्व से बोलो कि मैं भारत-वासी हूँ और प्रत्येक भारतवासी मेरा भाई है। तुम चिल्ला-कर कहो कि अज्ञानी भारतवासी, दरिद्र भारतवासी, ब्राह्मण भारतवासी, चाण्डाल भारतवासी, सब मेरे भाई हैं। तुम भी केवल कमर में कपड़ा लपेट, गर्व से पुकारकर कहो कि भारतवासी मेरा भाई है, भारतवासी मेरे प्राण हैं, भारत की देव-देवियाँ मेरा ईश्वर हैं; भारत का समाज मेरे बचपन का झूला, जवानी की फुलवारी और बुढ़ापे की काशी है। भाई, बोलो कि भारत की मिट्टी मेरा स्वर्ग है, भारत के कल्याण में मेरा कल्याण है; और रात-दिन कहते रहो कि "हे गौरीनाथ! हे जगदम्बे! मुझे मनुष्यत्व दो। माँ! मेरी दुर्बलता और कापुरुषता दूर कर दो। माँ! मुझे मनुष्य बना लो।"

स्वामी विवेकानन्द और नारी-समाज

प्रा० शकुन्तला भुस्कुटे, एम० ए०, ले० अ० डा० महाविद्यालय
नागपुर

आज हम स्वामी विवेकानन्द के काल से साठ वर्ष आगे बढ़ चुके हैं। इस कालखंड में भारत में कितने ही महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए। परिवर्तनशीलता समाज का धर्म है। भारतीय नारी-जीवन भी तीव्र गति से बदला है। स्वामी विवेकानन्द के समकालीन सुधारकों द्वारा सुझाये गये काफी सुधार नारी-समाज ने आत्मसात् किये हैं, परन्तु अभी भी भारतीय नारी सुखी नहीं है। इस बदली हुई परिस्थिति के कारण नारी जीवन में नयी समस्याएँ उत्पन्न हुई हैं। आज की भारतीय नारी, घर तथा बाहर की बढ़ती जिम्मेदारी के बोझ से दबी हुई है। नारी की समस्या का नारियों द्वारा सुलझाया जाना अधिक श्रेयस्कर होते हुए भी नारी मार्गदर्शन चाहती है। इस लेख में स्वामीजी के नारीविषयक मतों से परिचय कराने का प्रयत्न किया गया है।

स्वामीजी के जीवनकाल में समाज-सुधार की 'देशव्यापी' लहर दौड़ गयी थी। तत्कालीन समाज-सुधार के कार्यों में नारी-जीवन विषयक प्रश्नों को प्रधानता प्राप्त थी। यह एक निर्विवाद सत्य है कि भारतीय नारी की तत्कालीन स्थिति संतोषजनक न थी। भारत की अस्थिर राजनीतिक परिस्थिति के कारण अनेक शताब्दियों से नारी का कार्यक्षेत्र

घर की चहारदीवारी के अन्दर मर्यादित था। चूल्हा-चौका तथा सन्तान-संगोपन, केवल यही उसका जीवन-कार्य है, इसकी याद उसे बार-बार दिलायी जाती थी। वैभवशाली प्राचीन कला में निर्बाध संचरण करनेवाली सुसंस्कृत भारतीय विदुषी पूर्ण रूप से लुप्त हो चुकी थी। वेदकालीन ऋषतुल्य, वादविवाद-पटु, ब्रह्मवादिनी गार्गी, मैत्रेयी इत्यादि स्त्रियों का उल्लेख केवल भाषणों में ही किया जाता था। उदात्त भारतीय नारी-जीवन साहित्य में बन्दी था। कुछ प्रसंगों पर यद्यपि भारतीय नारी के पराक्रम, त्याग एवं विद्वत्ता की चिनगारी दिखायी देती थी, तथापि सामान्यतः भारतीय नारी की कार्यशक्ति मन्द हो चुकी थी। शिक्षा से वंचित तथा असंख्य कठोर सामाजिक रूढ़ियों से जकड़ी हुई भारतीय नारी को पुरुष के हाथों की कठपुतली से अधिक महत्व प्राप्त न था। स्वामी विवेकानन्द के समकालीन सुधारकों को भारतीय नारी की यह दयनीय स्थिति अत्यन्त खटक रही थी। स्त्रियों के उद्धार का कार्य स्वीकार कर उन्होंने कार्यारम्भ किया। यद्यपि स्वामीजी का जीवन-कार्य भिन्न था, तथापि समाज-सुधार की क्रान्ति की प्रतिध्वनि उनके मानस में भी बिना गूँजे न रही। स्वामीजी के समय-समय पर व्यक्त किये गये विचारों से इस बात की सत्यता सुस्पष्ट है।

समाज-सुधारकों ने सर्वप्रथम विधवा-विवाह की समस्या को हाथ में लिया। बाल-विवाह की प्रथा के कारण बाल-विधवाओं की संख्या काफी बड़ी थी। उच्चवर्गियों में पुन-

विवाह की प्रथा रूढ़ न थी। यद्यपि कानूनन् सती-प्रथा बन्द कर दी गयी थी, तथापि विधवाओं का दुर्भाग्य कोई विशेष कम न हुआ था। अपनी शेष आयु इन अभागिनी स्त्रियों को अत्यन्त कष्टमय स्थिति में तथा भरे-पूरे घर में संन्यासिनी की विरक्त वृत्ति से बितानी पड़ती थी। इस समस्या की ओर देखने का स्वामीजी का दृष्टिकोण समाज-सुधारकों से भिन्न था। स्वामीजी कहते थे कि घर-घर विधवाओं के अस्तित्व का कारण केवल बाल-विवाह है। लड़कियों को विवाह की आयु अगर बढ़ा दी जाय, तो बाल-विधवाओं को संख्या काफी कम हो जायगी। विवाह के समय कन्या की आयु कम-से-कम पन्द्रह वर्ष की हो। लड़कों को २५ से ३० वर्ष की आयु तक ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करना चाहिए।

विवाह ही जिनकी दृष्टि में जीवन का सर्वस्व है, ऐसे लोगों के लिए यह सोचना बिल्कुल स्वाभाविक है कि विधवाओं को पुनर्विवाह की स्वतंत्रता मिले बिना वे सुखी नहीं हो सकतीं। स्वामीजी को विचारधारा इससे भिन्न थी। वे कहते थे कि हिन्दू धर्मानुसार विवाह एक पवित्र कर्तव्य है, वह अधिकार नहीं है। उच्चवर्ग में स्त्रियों की संख्या पुरुषों की अपेक्षा अधिक रहती है, ऐसी स्थिति में सम्भव होते तक प्रत्येक स्त्री को विवाह का अवसर मिलना ही चाहिए। विधवा स्त्री को यह अवसर एक बार मिल चुका होता है। दुर्भाग्य से यदि उसके भाग्य में संसार-सुख नहीं है, तो भला उसे कोई क्या करेगा ? उसके जीवन में आये दारुण संकट के कारण उसका दुखी होना स्वाभाविक है। समाज-हित की

दृष्टि से देखा जाय तो ऐसी स्त्रियों को अपना जीवन ईश्वर-भक्ति में बिताना चाहिए तथा यथाशक्ति शिक्षा ग्रहण कर समाज की सेवा करनी चाहिए। आत्मोन्नति करने के लिए प्रयत्नशील ऐसी महिलाओं को समाज आवश्यक सहयोग दे। विधवा-विवाह की समस्या पेंचीदी है। यदि हम समाज की बहुसंख्यक विधवाओं के पुनर्विवाह के प्रयत्न में लग जायें, तो प्रौढ़ कुमारिकाओं के विवाह की समस्या उपस्थित हो जायेगी। विधवाओं को पुनर्विवाह की स्वतंत्रता देनेवाले पाश्चात्य समाज में यह समस्या उपस्थित हो चुकी है। स्वामी-जी ऐसा नहीं सोचते थे कि विधवाओं का पुनर्विवाह होना ही चाहिए। वे कहते थे, क्या विधवाओं के पुनर्विवाह से ही राष्ट्र श्रेष्ठ हो सकेगा? राष्ट्र का भविष्य क्या उस देश की विधवाओं को पुनर्विवाह से प्राप्त पतियों पर ही निर्भर रहता है? समाज के दुख का मूलभूत कारण ढूँढ़कर हमें उसे दूर करने की योजना करनी चाहिए।

विवाह के सम्बन्ध में स्वामीजी लिखते हैं—

'Marriage is the truest goal for ninetynine percent of the human race and they will live the happiest life as soon as they have learnt and are ready to abide by the eternal lesson that we are bound to bear and forbear and that to every one life must be a compromise.'

(अधिकांश मानवों के लिए वैवाहिक जीवन का आदर्श ही योग्य है। हम एक दूसरे को सम्हाल लें, सहकारिता से

जीवन यापन करें—इस सनातन उपदेश का यदि वे पालन करते हैं, तो उनका जीवन सुखी होने में कोई बाधा न होगी।)

विवाह से जीवन को पूर्णता तो मिलती है, परन्तु विवाह की समस्या व्यक्तिगत समस्या नहीं है। समाज को जीवित रखने का कार्य विवाह के द्वारा होता है। फिर भी विवाह का उद्देश्य केवल इन्द्रिय-सुख नहीं है। एक अमेरिकन बहन के विवाह के उपलक्ष में भेजे गये पत्र में स्वामीजी लिखते हैं—

May you always enjoy the undivided love of your husband, helping him in attaining all that is desirable in this life and when you have seen your children's children and the drama of life is nearing its end, may you help each other in reaching that infinite ocean of Existence, Knowledge and Bliss at 'the touch of whose waters all distinctions melt away and we all become one.'

(तुम्हें अपने पति का एकनिष्ठ प्रेम प्राप्त हो। जीवन में पुरुषार्थ को प्राप्ति करने में तुम उनकी सहायता करो और नातियों का मुख देखने के बाद जीवन की सान्ध्य वेला में उस सच्चिदानन्द तक पहुँचने के लिए तुम एक दूसरे की सहायता करो। उसकी प्राप्ति के बाद सब भेदों तथा द्वन्द्वों का उपशमन होकर हम सब एक हो जाते हैं)।

समाज के 'घटक' इन विवाहित दम्पतियों की सन्तानों का लालन-पालन समाज में होता है। सन्तान के गुण-अव-

गुणों का परिणाम समाज को सहन करना पड़ता है। इसी कारण जिस विवाह-पद्धति से समाज का अधिक हित होगा, वही विवाह पद्धति उत्तम होगी। भारतीय विवाह-पद्धति में समाज-हित को प्राधान्य दिया गया है। पाश्चात्य लोगों का दृष्टिकोण भिन्न है—विवाह के पश्चात् सहजीवन के सुख-दुख विवाहित दम्पति को भोगने पड़ते हैं, इस कारण विवाह तय करने की जिम्मेदारी समाज पर नहीं है। विवाह दो व्यक्तियों का व्यक्तिगत प्रश्न है। स्वामीजी को भारतीय विचारधारा अधिक हितकर प्रतीत हुई।

विवाहित व्यक्तियों को जब चाहे तब विवाह-विच्छेद करने की छूट हो, यह कल्पना ही स्वामीजी को अच्छी नहीं लगती थी। स्वामीजी कहते थे—विवाह-विच्छेद के अधिकार के कारण वैवाहिक बन्धनों की धार्मिकता और पवित्रता कम होने की सम्भावना है। जिस वैवाहिक बन्धन में धार्मिकता और पवित्रता को कायम रखने का प्रयत्न किया गया हो, हो सकता है उसके बन्धन कष्टप्रद लगें, पर उसको अपनानेवाला समाज पवित्र बनकर ब्रह्मचर्य के आदर्श की प्राप्ति करता है। ऐसे समाज में शक्तिशाली व्यक्ति जन्म लेते हैं और भविष्य में भी जन्म लेते रहेंगे।

पाश्चात्य समाज में रूढ़ प्रेम-विवाह की पद्धति को हिन्दू समाज में लाने की आवश्यकता स्वामीजी को महसूस नहीं हुई। प्रेम-विवाह से सुख और सन्तोष उपलब्ध होगा ही ऐसा निश्चित रूप से कहाँ सिद्ध हुआ है? प्रेम विवाह को प्रोत्साहन देनेवाले समाज में विवाह-विच्छेद की बढ़ती

संख्या की ओर ध्यान दिये बिना काम न चलेगा। उपजातियों में परस्पर विवाह सम्पन्न करने की कल्पना को स्वामीजी का विरोध न था।

यद्यपि संन्यासधर्मी स्वामीजी का नारी-जीवन विषयक अनुभव मर्यादित था, तथापि नारी की योग्यता की उन्हें पूर्ण कल्पना थी। वे कहते थे—नारी जीवन का यथोचित सम्मान न रखनेवाले राष्ट्र कभी भी उन्नत नहीं हुए और न कभी होंगे ही।

'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः॥'

—जहाँ नारी का सम्मान होता है, वहाँ देवता निवास करते हैं; जहाँ उनका सम्मान नहीं होता, वहाँ सब कार्य और प्रयत्न निष्फल होते हैं।

जहाँ स्त्रियों का जीवन दुःखमय होगा, उस कुटुम्ब और उस देश की उन्नति की आशा करना व्यर्थ है। स्वामीजी कहते हैं, 'नारी के साथ किस प्रकार का व्यवहार किया जाता है, इस आधार पर किसी भी देश की प्रगति का ठीक आकलन किया जा सकता है।'

हमारी अवनति का कारण यही है कि हमने भारत के अधःपतन के काल में नारी के साथ कीट-पतंगों की तरह व्यवहार किया। महामाया की साक्षात् मूर्तिस्वरूपा भारतीय नारी को केवल प्रजोत्पादन का साधन बनाया। यह परिस्थिति बदलनी ही होगी। स्त्रियों की उन्नति यदि न हुई तो क्या पुरुषों की प्रगति होना सम्भव है? स्वामीजी का कहना था

कि "नारी की स्थिति में उन्नति हुए बिना जगत् का कल्याण होने की सम्भावना नहीं। एक पंख के बल पर पक्षी का उड़ सकना सम्भव नहीं है।"

ऊपर-ऊपर से किये गये सुधार पर स्वामीजी का विश्वास न था। उनका सारा जोर स्वाभाविक उन्नति पर था, विकास पर था। यह विकास अच्छी शिक्षा से होगा ऐसी स्वामीजी की मान्यता थी। वे कहते थे कि जितनी आस्था से पुत्र का पालन किया जाता है और उसे शिक्षा दी जाती है उतनी, किंबहुना, उससे अधिक आस्था और सावधानी से लड़कियों की शिक्षा की व्यवस्था की जानी चाहिए। सन्तान को जन्म दे देने से ही माता-पिता का कर्त्तव्य पूर्ण नहीं होता, सन्तान को अच्छी शिक्षा देने का उत्तरदायित्व भी उन्हीं का है। स्त्री-शिक्षा का कार्य किस तरह शुरू किया जाय और वह किस दिशा में किया जाय इस सम्बन्ध में भी स्वामीजी ने विचार प्रदर्शित किये हैं।

यद्यपि भारतीय इतिहास में बौद्धधर्मीय संन्यासिनियों के मठों का इतिहास अधिक स्फूर्तिदायक न था, तथापि हिन्दू नारी में ज्ञान, भक्ति, विवेक और वैराग्यात्मक विचार रहें और उनका मनोविकास हो इस उद्देश्य से स्वामीजी ने पुरुष-मठों से पूर्णतः अलग, एक स्वतंत्र नारी-मठ की स्थापना करने का विचार किया था। स्वामीजी का दृढ़ विश्वास था कि सदाचार और पवित्रता की नींव पर आधारित संस्था का भविष्य उज्ज्वल रहेगा। कार्य-बाहुल्य के कारण अल्पायुषी स्वामीजी की नारी-मठ की कल्पना उनके जीवन-काल में

साकार रूप धारण न कर सकी, परन्तु आगे चलकर उनकी इस इच्छा को रामकृष्ण मिशन ने मूर्त रूप दिया। ऐसा प्रतीत होता है कि नारी-मठ के ध्येय और उसकी व्यवस्था के सम्बन्ध में स्वामीजी ने अपने सहयोगियों को समय-समय पर अनेक सूचनाएँ दी थीं।

स्वामीजी कहा करते थे, ऐसा कौनसा शास्त्र है जिसके अनुसार नारी ज्ञान और भक्ति की अधिकारिणी नहीं हो सकती ? भले ही अनेक स्मृति-ग्रन्थों और पुराणों में हिन्दू नारी के अधिकारों पर कठोर अंकुश लगाया गया है, पर हिन्दुओं के मूल धर्म-ग्रन्थों में आत्मज्ञानाधिकार के सम्बन्ध में स्त्री-पुरुष-भेद नहीं माना गया हैं। वेदान्त धर्म सिखाता है कि एक ही आत्मतत्त्व सब जीवों में विद्यमान है। श्वेताश्वतर उपनिषद् में ऋषिवर कहते है—"त्वं स्त्री, त्वं पुमान् असि, त्वं कुमार उत वा कुमारी'—आत्मन् ! तू स्त्री है, तू पुरुष का रूप धारण करता है, तू ही कुमार है, तू ही कुमारी है !

स्त्री और पुरुष का भेद भुलाकर उनमें मानवता का दर्शन होना चाहिए। तब कहीं समाज की यथार्थ उन्नति हो सकती है।

स्वामीजी ने नारी-मठ की स्थापना करने का विचार इस उद्देश्य से नहीं किया था कि स्त्री और पुरुष को समान अधिकार मिलें। स्वामीजी का ऐसा भी आदेश न था कि सब स्त्रियाँ घर-गृहस्थी और कौटुम्बिक जवाबदारी छोड़कर आत्मज्ञान की महत्त्वाकांक्षा धारण करें। स्वामीजी का ऐसा

मत था कि संन्यासिनियों—वैरागिनियों—का व्रत सब स्त्रियों के लिये नहीं है। वह तो एक उच्च आदर्श है। जिन स्त्रियों को वह जँचे और जिनसे वह बन सके उन्हीं को उस मार्ग पर जाना चाहिये। स्वामीजी की ऐसी इच्छा थी कि जिन स्त्रियों को ब्रह्मवादिनी होने की इच्छा है, जिन्हें स्वतः की गृहस्थी में, घर में फँसकर रहने की इच्छा नहीं है और जिनमें समाजकार्य या देशकार्य के लिए स्वतः को न्यौछावर कर देने की आन्तरिक आकांक्षा है, ऐसी स्त्रियों को मठ में रहना चाहिए।......आत्मज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न करने-वाली स्त्रियों की संख्या बिलकुल कम रहने पर भी, उनके व्यक्तित्व के दिव्य तेज से हजारों स्त्रियों का जीवन निखर जायेगा और उन्हें सत्यानुसन्धान की स्फूर्ति मिलेगी, ऐसा स्वामीजी का दृढ़ विश्वास था। कौमार्यव्रत धारण करनेवाली मठवासिनी नारी के धर्मपरायणता, त्याग और संयम ही आभूषण होंगे। सेवाधर्म उनका जीवनव्रत होगा। स्वामीजी की इच्छा थी कि सुशिक्षित, सुसंस्कृत, शीलवती, ब्रह्मचारि-णियाँ स्त्री-शिक्षा के प्रश्न को हाथ में लें। स्वामीजी का विचार इस प्रकार की स्त्री-कार्यकर्ताओं द्वारा स्त्री-शिक्षा का प्रसार करने का था।

स्वामीजी कहा करते थे कि यदि नारी-समाज सुशिक्षित हुआ तो उसमें बुरा-भला समझने की क्षमता आ जायेगी। शिक्षित नारी स्वतः को अच्छी आदतों में ढाल सकेगी। वे स्वतः का स्वरूप जान सकेंगी। उन्हें आत्मतत्त्व की प्रतीति होगी, अपने स्वतंत्र अस्तित्व का अनुभव होगा। अपने

विश्वासों के अनुसार वे अपनी उन्नति करेंगी। वे अपने प्रश्न स्वयं ही उत्तम रीति से सुलझा सकेंगी। प्रारम्भ में स्त्रियों की प्रगति भले ही धीमी रहे, फिर भी वह सुदृढ़ रहेगी। नारी का जीवन-कार्य पुरुष के जीवन-कार्य से भिन्न है। इसलिए नारी के कार्यक्षेत्र में पुरुषों को हस्तक्षेप करने की आवश्यकता नहीं है और उसी तरह नारी को पुरुष का अनुकरण करने की भी आवश्यकता नहीं है।

स्वामीजी श्री रामकृष्ण परमहंस की सहधर्मचारिणी श्रीसारदामणि देवी को नारी-मठ का केन्द्र बनाना चाहते थे। श्रीसारदामणि देवी, श्रीरामकृष्ण परमहंस की शिष्याओं और स्वामीजी के साथ पाश्चात्य देशों से आयी विदुषी शिष्याओं की समवेत सहायता से नारी मठ की प्रतिष्ठा होनेवाली थी। स्वामीजी की ऐसी कल्पना थी कि तत्कालीन सामाजिक परिस्थिति में नारी मठ की स्थापना का स्वधर्मी जनों द्वारा तीव्र विरोध होगा, इसलिए वे कहा करते थे, "विरोध होने से नैतिक बल बढ़ता है! समाज-कार्य करते समय अड़चनें आती ही हैं। संकट आने से कार्य करने की शक्ति अधिक सक्षम होती है। जिसके जीवन में अड़चनें नहीं हैं, विरोध नहीं है, वह मनुष्य मृत्यु के मार्ग से लग गया है ऐसा समझना चाहिये। लड़ना ही तो जीवन का लक्षण है। क्या कोई भी काम स्वार्थत्याग के बिना, तपस्या के बिना कभी सफल हुआ है? एक या दो पीढ़ियों के बाद हिन्दू समाज मठवासिनी नारी के ठोस कार्य से नारी-मठ के महत्त्व को समझेगा।

"प्रारम्भ में अन्य लोग भले ही अपनी लड़कियों को इस संस्था में न भेजें, पर श्रीरामकृष्ण के भक्तों की लड़कियाँ तो यहाँ रहेंगी। नारी-मठ में कुमारियों और विधवा ब्रह्मचारिणियों को प्रवेश दिया जायगा। यदि गृहस्थाश्रमी भक्तिमती स्त्रियों को इस संस्था में दी जानेवाली शिक्षा का लाभ उठाने की इच्छा हुई, तो उन्हें भी कभी-कभी मठ में रहने की अनुमति दी जायगी। मठ की छात्राओं को शिक्षा पूरी होते तक या उम्र के पन्द्रहवें वर्ष तक विवाहबद्ध नहीं होने दिया जायगा। नारी-मठ की व्यवस्था देखने के लिए पहले-पहल रामकृष्ण मिशन के वृद्ध सदस्य मार्ग-दर्शन करेंगे, परन्तु शीघ्र ही नारी-मठ की व्यवस्था योग्य और अनुभवी स्त्रियाँ देखेंगी। पुरुषों का इस मठ से सम्बन्ध नहीं रहेगा। यह पूर्ण रूप से स्वतंत्र संस्था रहेगी।

"गुणसम्पन्न तथा सुयोग्य होती हुई भी भारतीय स्त्री की वर्तमान युग में उन्नति न होने का कारण यह है कि इस कालखंड में पुरुषों ने उसे अच्छी शिक्षा से वंचित रखा। भारतीय नारी को सर्वप्रथम शिक्षा की आवश्यकता है। स्त्री-शिक्षा का उद्देश्य पुरुषनुमा नारी का निर्माण करना नहीं है। नारी को ऐसे विषय सिखाने चाहिए जो उसके व्यक्तित्व के लिए उपयोगी सिद्ध हों। मठ का शिक्षाक्रम पाँच-सात साल का होना चाहिए। इस शिक्षाक्रम में मातृभाषा, संस्कृत, कुछ आंग्ल भाषा, इतिहास, पुराण, पाकशास्त्र, सिलाई, बुनाई, गृहव्यवस्था, शिशु-संगोपन, आरोग्यशास्त्र, शिल्पकला, चित्रकला, फोटग्राफी इत्यादि विषय सिखाने

चाहिए। उसी तरह, ऐसी शिक्षा भी उन्हें दी जाय जो संकट-कालीन परिस्थिति में उदरनिर्वाह के लिए उपयोगी सिद्ध हो।"

महाकाली पाठशाला की संस्थापिका तपस्विनी माताजी का शिक्षाविषयक दृष्टिकोण स्वामीजी को पसन्द था। तपस्विनी माताजी ने एक बार स्वामीजी से कहा था, "स्वामीजी! मुझे किसी का आधार नहीं है। इन लड़कियों की ही पूजा कर रही हूँ। और मुझे विश्वास है कि ये ही मुझे मोक्ष दिलायेंगी।" माताजी की श्रद्धा थी कि स्त्री-शिक्षा के कार्य द्वारा वे कुमारी उमा की सेवा कर रही हैं। उस समय स्वामीजी ने उन्हें उत्तर देते हुए कहा था—"ऐसे दृष्टिकोण से अगर शालाएँ चलायी जायँ, तो विकास क्या अधिक दूर रह जायगा ?"

आत्मरक्षा की शिक्षा भी छात्राओं के लिए अत्यन्त आवश्यक है। छात्राओं के हाथ में नाटक–उपन्यास देने के बदले उन्हें भारत की उज्जवल परम्परा चलानेवाली, प्राचीन तथा अर्वाचीन इतिहासकालीन सुप्रसिद्ध विदुषियों का चरित्र सिखाना चाहिए। संघमित्रा, लीलावती, अहल्याबाई होल्कर, झाँसी की रणदेवी लक्ष्मीबाई, सन्त मीराबाई आदि प्रातः-स्मरणीया विदुषियों का जीवन-परिचय छात्राओं को होना चाहिए। भारतीय नारी का सच्चा विकास तब तक नहीं हो सकता, जब तक उसके सामने नारी का आदर्श नहीं रखा जाता। भारतीय स्त्रियों का आदर्श है सीता, सावित्री तथा दमयन्ती का जीवन। पतिप्रेम के बल पर मृत्यु पर विजय प्राप्त करके पति को पुनः जीवित करनेवाली सावित्री का

जीवन अपरिवर्तनशील प्रेम का आदर्श है।

स्वामीजी कहते हैं, सीता का चरित्र अनुपम है। सीता हमारी राष्ट्रदेवी है। रामायण ऐतिहासिक सत्य है अथवा नहीं, इस सम्बन्ध में विवाद करने की आवश्यकता नहीं है; सत्य तो यह है कि भारतीय स्त्रीत्व का यथार्थ आदर्श, चिर-पवित्र, सती सीता ने भारत की समग्र सुशिक्षित या अशिक्षित जनता के हृदय में स्थान प्राप्त किया है। सहनशीलता की साक्षात् प्रतिमा सीता का चरित्र देदीप्यमान है। सीता का अद्भुतरम्य चरित्र साधुता और विशुद्ध जीवन का प्रतीक है। नारी-जीवन के सद्गुणों का जीता-जागता आदर्श सीता के जीवन में दिखाई देता है। अपने जीवन में आये हुए समस्त संकटों का कर्तव्यबुद्धि से स्वागत करनेवाली सीता ने श्रीरामचन्द्र के बारे में एक भी कठोर शब्द नहीं कहा। स्वामीजी कहते हैं, सीता के चरित्र से भारतीय नारी-जीवन को दूर ले जाना और उसमें पाश्चात्य संस्कृति का अनुकरण करते हुए आधुनिकता लाने का प्रयत्न करना निष्फल होगा।

भारतीय स्त्रियाँ बुद्धिमान हों। बुद्धिमत्ता आत्मोन्नति में सहायता करती है, परन्तु बुद्धिमान् होना ही सर्वश्रेष्ठ गुण नहीं है। उसमें नीतिमत्ता और आध्यात्मिकता का योग चाहिए। भारतीय नारी में इन गुणों का विकास करने के लिए स्त्रियों की शिक्षाप्रणाली में धार्मिक शिक्षा को महत्त्वपूर्ण स्थान देना चाहिए। केवल बौद्धिक विकास से स्त्रियों का परम कल्याण नहीं होगा। आध्यात्मिकता की नींव पर प्रतिष्ठित हिन्दू सभ्यता का यथार्थ रूप देखने के लिए भारतीय स्त्रियों में योग्य

दृष्टिकोण का निर्माण करना होगा। उसके लिए नारी-जीवन में नीतिमत्ता और आत्मिक उन्नति को सर्वोच्च स्थान देना होगा।

धार्मिक शिक्षा और नैतिक शिक्षा के विषय भारतीय नारी को कठिन प्रतीत न होंगे। सतीत्व का अर्थ अशिक्षित हिन्दू स्त्रियाँ भी आसानी से समझ सकती हैं, क्योंकि सतीत्व की जन्मसिद्ध वसीयत लेकर वे संसार में प्रविष्ट होती हैं। सतीत्व के आदर्श की सुप्रतिष्ठा हो जाने पर भारतीय नारी किसी भी परिस्थिति में शीलभ्रष्टता मान्य करने की अपेक्षा जीवन का होम कर देना ही पसंद करेगी।

भारतीय नारी की प्रवृत्ति आध्यात्मिक है। वह धार्मिक है। चरित्र, सेवाभाव, प्रेम, दया, संतोष, भक्ति आदि गुणों में वह संसार के किसी भी प्रगतिशील राष्ट्र की नारी से पीछे न रहेगी। भारतीय नारी पवित्र है, त्याग की मूर्ति है। उसमें वह शक्ति है जो परमेश्वर के चरणों पर सर्वस्वार्पण करने से प्राप्त होती है। भारतीय नारी के जीवन में सदैव सतीत्व और मांगल्य का साक्षात्कार होता है। स्वामीजी का यह अटल विश्वास था कि अगर भारतीय नारी की बौद्धिक शक्ति का विकास हो जाय, तो वह विश्ववन्द्य हो जायगी।

जो धर्म पुरुष का है, वही धर्म स्त्री का है। नारी को धर्म पर श्रद्धा रखनी चाहिये। धार्मिक शिक्षा में जप, पूजा-अर्चा तथा ध्यान-धारणा का भी समावेश होना चाहिये। इस प्रकार अच्छी शिक्षा पायी हुई छात्रा यथावसर सुदक्ष गृहिणी

और सुमाता बनेगी, अपने पति को उच्च भावनाओं की प्रेरणा देगी। पवित्र एवं सुशिक्षित माता की कोख से महान् विभूतियों और वीर पुत्रों का जन्म होता है। ऐसी कार्यक्षम स्त्रियों के सुपुत्र जब अपने उज्ज्वल कार्य से देश का नाम उज्ज्वल करेंगे, तभी आधुनिक भारत में संस्कृति, ज्ञान और भक्ति का उदय होगा।

स्वामीजी ने केवल भारतीय नारी-जीवन के सम्बन्ध में विचार नहीं किया है। उन्होंने जो पाश्चात्य नारी-जीवन देखा था, उसने भी उनके विचार-कक्ष में प्रवेश किया था। पृथ्वी प्रदक्षिणा करनेवाले स्वामीजी ने पाश्चात्यों का दैनिक जीवन समीप से देखा था—उसका अध्ययन किया था।

अमेरिकन नारी के विषय में स्वामी विवेकानन्द लिखते हैं—अमेरिकन नारी लक्ष्मी की तरह सुन्दर है, वह गुणों में सरस्वती है। लक्ष्मी और सरस्वती का सम्मिलित स्वरूप, जो क्वचित् ही दिखाई देता है, अमेरिकन नारी में परिलक्षित होता है। अमेरिकन नारी आरोग्यसम्पन्न और बुद्धिमती है। सर्वसामान्य अमेरिकन नारी सर्वसामान्य अमेरिकन पुरुष से अधिक सुसंस्कृत और पढ़ी-लिखी है। जिस समय स्वामी विवेकानन्द धन-मित्र-प्रतिष्ठा-ख्याति से हीन एक अज्ञात व्यक्ति के रूप में पहली बार अमेरिका की भूमि पर उतरे, उस समय अमेरिकन स्त्रियों ने ही बड़े सौजन्य से उन्हें आश्रय दिया था, उनसे पुत्रवत् व्यवहार किया था, मातृप्रेम की उन पर वर्षा की थी।

स्वामीजी कहते हैं—अमेरिकन नारी को सामाजिक और

नागरिक कर्त्तव्य की पूर्ण जानकारी है। वे स्वतन्त्र हैं, सुरक्षित हैं। उनमें आत्मविश्वास है। अपने देश को उन्नतिशील, स्वतन्त्र और बलवान् बनाने में उन्होंने योग दिया है। हजारों अमेरिकन स्त्रियाँ हिमशिला की तरह शुद्ध हैं, निष्कलंक हैं। सारे क्षेत्रों में वे पुरुषों की बराबरी करने में मग्न है। सामाजिक अधिकारों की प्राप्ति के लिए उनका अहर्निश प्रयत्न चालू है। अमेरिकन नारी को संमिश्र समाज में स्वतन्त्रतापूर्वक विचरण का अधिकार प्राप्त है।

'न गृहमित्याहुर्गृहिणी गृहमुच्यते' नामक उक्ति यद्यपि अमेरिकन गृह-जीवन में स्वामीजी को चरितार्थ होती दिखाई दी थी, तथापि स्वामीजी को ऐसा न लगा कि अमेरिकन नारी ने जीवन में पूर्णत्व का आदर्श हस्तगत कर लिया है। स्वामीजी लिखते हैं—पाश्चात्य लोगों का जीवन यद्यपि ऊपरी तौर से देखने पर आनन्दमय प्रतीत होता है, तथापि वह वैसा नहीं है। पाश्चात्य समाज-जीवन अन्दर से दुखी है। पाश्चात्य लोगों का जीवनोद्देश है धनसंचय। आधिभौतिक विचारधारा की सघन छाया उन लोगों के दैनिक जीवन पर छा गई है। अमेरिकन पुरुषसमाज धन-संचय में तल्लीन है। वही उसका सतत उद्योग है। सर्वसामान्य पाश्चात्य पुरुषों को आत्मोन्नति करने के लिए न तो समय है, न ही इच्छा है!

अमेरिकन समाज में नारी को सम्मान प्राप्त है, उसकी पूजा होती है, परन्तु यह पूजा होती है उसके यौवन की, उसके सौन्दर्य की। इसी कारण अमेरिकन स्त्री अल्पकालीन

यौवन को स्थायी बनाने का असाध्य प्रयत्न कर रही है। 'यह मानो प्रकृति पर विजय प्राप्त करने का प्रयत्न है। पाश्चिमात्यों के गृहजीवन रूपी वृत्त का मध्यबिन्दु पत्नी है। मातृत्व के आदर्श से अमेरिकन स्त्री परिचित नहीं है।

कभी-कभी स्वामीजी अपने पाश्चात्य मित्रों से कहते थे, मैं तुम लोगों की नारी-प्रशंसा से ऊब गया हूँ। जब तक तुम स्त्री और पुरुष का भेद बनाये रखोगे और मानवता के दृष्टि-कोण से जीवन पर विचार नहीं करोगे, तब तक तुम्हारा यथार्थ विकास न होगा। समाज-जीवन में शिष्टाचार और सभ्यता के नियमों का अपना महत्व अवश्य है, परन्तु उन्हीं को आदर्श मान लेने से काम नहीं चलेगा। यथार्थ उन्नति-पथ की ओर ले जानेवाले उच्च आदर्शों की आवश्यकता है।

विवाहित अमेरिकन स्त्रियाँ सुखी हैं, परन्तु सभी अमेरिकन स्त्रियाँ विवाहबद्ध नहीं हो सकतीं। यद्यपि प्रत्येक स्त्री चाहती है कि उसे सुयोग्य पति प्राप्त हो और उसका स्वयं का घर बस जाय, तथापि बहुतसी स्त्रियों को अकेले जीवन बिताना पड़ता है। इस क्षेत्र में भी स्पर्धा है। इसीलिए, यद्यपि अमेरिकन समाज के समक्ष बालविधवाओं का प्रश्न नहीं है, तथापि प्रौढ़ कुमारिकाओं के भविष्य की हल न होनेवाली समस्या है। यह समस्या बालविधवाओं की समस्या से अधिक दुखद है। दुर्भाग्य से जिन्हें वैधव्य प्राप्त हो गया है, ऐसी स्त्रियों को समाज की सहानुभूति प्राप्त है, पर प्रौढ़ कुमारिकाओं की समस्या में अपयश की भावना सतत जागृत रहती है। इसी कारण, अर्थोपार्जन के मामले में यद्यपि अमेरिकन स्त्री स्वतंत्र

है, तथापि दैनंदिन जीवनक्रम में अपना व्यवहार संतुलित रखना उसके लिये कठिन हो जाता है। अमेरिकन स्त्री की अपेक्षा स्वामीजी को अंग्रेज स्त्री कम उतावली प्रतीत हुई। अंग्रेज स्त्री शान्त है, विचारवान है। स्वयं द्वारा चुने गये आदर्शों के अनुकूल व्यवहार करने का प्रयत्न अंग्रेज नारी में स्वामीजी को दिखा। सारांश में, स्वामीजी अन्तःकरण से चाहते थे कि पाश्चात्य स्त्री-जीवन का एकदम अनुकरण कहीं उनके दुःखों को भारतीय स्त्रियों के जीवन में न ला दे।

स्वामीजी कहते थे, भारतीय स्त्री-जीवन का आदर्श है मातृत्व। प्रत्येक स्त्री अपने पति को छोड़ अन्य पुरुषों को पुत्रवत् माने। भारतीय जीवन में माता को जो सर्वोच्च स्थान प्राप्त है, वह पाश्चात्य जीवन में माता के स्थान से कुछ निराला ही है। माता की बराबरी पृथ्वीतल पर कोई नहीं कर सकता। माता के पूर्व यदि मेरी मृत्यु हो तो वह माँ की गोद में ही हो ऐसी इच्छा रखना भारतीयों को मातृप्रेम ही सिखाता है। उदात्तता से भरी मातृत्व की भावना में विषयासक्ति को स्थान नहीं है। इस नश्वर जगत् में परमेश्वर-प्रेम की बराबरी का स्थान मातृप्रेम ने प्राप्त किया है। 'माँ' शब्द में असीम प्रेम भरा है। इसी कारण मातृप्रेम को कोई भी सहज ही समझ सकता है। हिन्दू धर्म परमेश्वर की ओर मातृत्व की भावना से देखना सिखाता है। भारत ने जगन्माता और जगज्जननी ये नाम परमेश्वर को दिये हैं।

भारत में माता ही गृहस्वामिनी है। भारतीय माता का जीवन अत्यधिक कष्टों से भरा है। स्वार्थशून्यता,

सहिष्णुता और क्षमाशीलता भारतीय माता के विशेष गुण हैं। मातृपद पर अधिष्ठित हुए बिना भारतीय नारी के जीवन को परिपूर्णता प्राप्त नहीं होती। माता, पत्नी और कन्या ये भारतीय नारी-जीवन की सीढ़ियाँ हैं। विशुद्ध मातृप्रेम के सामने पत्नी का प्रेम निम्न श्रेणी का माना जाता है। इस कारण भारतीय स्त्री-पुरुषों को पति-पत्नी प्रेम का प्रदर्शन करते नहीं बनता। माता का प्रेम निरपेक्ष प्रेम है। ऐसा प्रेम जो कुछ नहीं चाहता, जो पुत्र के दोषों की परवाह नहीं करता, बिना अनुभव किये समझ में नहीं आता। पिता सजा दे सकता है, परन्तु क्षमा करने का सम्मान माता को प्राप्त है। संन्यासमार्ग पर चलने-वाले युवकों को स्वामीजी आदेश दे गये हैं कि प्रत्येक स्त्री की ओर मातृत्व की भावना से देखो। वैराग्यमय जीवन को अपनानेवाले स्वामीजी ने मातृप्रेम का अनुभव किया था। अपनी माता के सम्बन्ध में स्वामीजी ने एक बार लिखा था, "मैं अपनी माता को तीर्थयात्रा के लिये ले जानेवाला हूँ। हिन्दू विधवा की यह बड़ी भारी मनोकामना रहती है। मैंने अपने लोगों को जन्म भर कष्ट दिया। अपनी माता की कम-से-कम यह इच्छा पूर्ण करने का मैं प्रयत्न कर रहा हूँ।"

मातृस्थानीय श्रीसारदामणि देवी का आशीर्वाद लिये बिना स्वामीजी को किसी भी महत् कार्य के लिये स्फूर्ति न आती थी।

स्वामीजी कहते थे कि माता-पिता ने यदि केवल स्व का ही विचार किया, तो सन्तान और माता-पिता का सम्बन्ध पक्षियों की तरह का हो जायगा।

मातृप्रेम की महिमा गानेवाले स्वामीजी के हृदय में पैरों-तले कुचले जानेवाले नारी-वर्ग (वेश्याओं) के प्रति भी सहानुभूति थी। वे लिखते हैं। "राह में उन्हें (वेश्याओं को) देख नाक-भौं न सिकोड़ो। वे ढाल की तरह खड़ी रहकर लम्पटों के अन्यायों और अत्याचारों से सैकड़ों सतियों की रक्षा कर रही हैं। अतः उन्हें धन्यवाद दो। उनके प्रति मन में घृणा न रखो।"

स्वामीजी को नारी जीवन का कौनसा आदर्श अभिप्रेत था? भारतीय नारी उनके काल में शिक्षा में पिछड़ी हुई थी। पाश्चात्य स्त्रियाँ भारतीय स्त्रियों की अपेक्षा आध्यात्मिक क्षेत्र में पीछे थीं। स्वामीजी पाश्चात्य जीवन की उद्योगशीलता और भारतीय जीवन की विनम्रता का समन्वय चाहते थे। वे चाहते थे भारतीय और पाश्चात्य संस्कृतियों का संगम।

प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में, युवावस्था के समय, उसे भविष्य के लिए निश्चित ध्येय तय करने का अवसर आता है। अपना स्वभाव और प्रकृति पहचानकर उसे अपने जीवन के मार्ग का निर्माण करना पड़ता है। ऐसी ही अवस्था में पड़ी हुई बुद्धिमती, ध्येयवादी और स्वतंत्र वृत्ति की एक अमेरिकन बहन को भेजे गये पत्र में स्वामीजी लिखते हैं, [ज]गत में दो प्रकार के व्यक्ति होते हैं। पहले वर्ग में दृढ़तर [स्न]ायुवृत्तिवाले, शान्त, निसर्ग के नियमों का विरोध न करने-[वाले], कल्पना के पीछे न दौड़नेवाले, सज्जन, दयालु और [अ]च्छे स्वभाव के लोग रहते हैं। ऐसे व्यक्तियों के लिये ही [य]ह संसार है। ऐसे ही व्यक्ति सुख-भोग करने के लिये जन्म

लेते हैं। दूसरे वर्ग के व्यक्ति दृढ़ प्रवृत्ति के, कल्पना-सृष्टि में रमे रहनेवाले, अत्यधिक भावनाप्रधान और प्रतिभासम्पन्न होते हैं। इनके जीवन में हर क्षण चढ़ाव-उतार लगा रहता है। ऐसे व्यक्तियों को सुख नहीं मिलता। पहले वर्ग के लोगों के जीवन में सुख का स्तर नहीं बदलता, परन्तु दूसरे वर्ग के व्यक्ति परमानन्द और दुःख के बीच थपेड़े खाते रहते हैं, और इस वर्ग से ही प्रतिभासम्पन्न और अत्यन्त बुद्धिमान् व्यक्तियों का निर्माण होता है। अत्यधिक बुद्धिमत्ता का रहना भी एक प्रकार का पागलपन है, ऐसा जो आधुनिक सिद्धान्त लोग प्रतिपादित करते हैं, उसमें कुछ सत्यता है। इस वर्ग का व्यक्ति यदि बड़ा होना चाहता है, तो उसे जीवन-संग्राम के लिये तैयार रहना चाहिये। उसे फिर किसी की माया नहीं चाहिए, व्याह नहीं चाहिये, संतान नहीं चाहिये। उसे केवल अपने ध्येय के अतिरिक्त अन्य किसी भी बात में आसक्ति न हो। केवल ध्येय के लिये देह धारण करना और ध्येय के लिए ही मरना..!"

"कोई एक तय करो। भोग या योग। या तो इस जीवन में चैन करो या योगी होने के लिये सर्वस्व का त्याग करो। कोई भी व्यक्ति इन दोनों बातों को एक साथ इस जीवन में प्राप्त नहीं कर सकेगा। जिनकी अपेक्षाएँ बहुत होती हैं, उन्हें कुछ नहीं मिलता। तत्त्वज्ञान शास्त्र, धर्म या साहित्य इनमें से किसी भी विषय को चुन लो। तत्पश्चात् उसे जीवन में सर्वोच्च स्थान दो। सुखी रहो या श्रेष्ठता प्राप्त करो।"

—'जीवन विकास' से साभार।

अनु०—श्रीमती विद्या गालवलकर, एम. ए.,
शासकीय महिला महाविद्यालय, रायपुर।

कवि विवेकानन्द

प्राध्यापक नरेन्द्र देव वर्मा, एम. ए., शासकीय महाविद्यालय,
बालाघाट

विवेकानन्द प्रकृत कवि हैं। प्रकृत कवि विशुद्ध काव्य की सर्जना करता है जो समग्रगत मानव व्यक्तित्व की प्रकृत और पूर्ण अभिव्यक्ति है। काव्य के इस मूल स्वरूप को ध्यान में न रखने के कारण विश्व-वाङ्मय को विविध संक्रांतियों से गुजरना पड़ा है। कभी उसके रागमय पक्ष में काव्य की आत्मा देखी गई है और कभी उसके दर्शन बौद्धिक अनुशीलन के ऊहापोहों में किए गए हैं। वस्तुतः बुद्धि और राग मानव-व्यक्तित्व की दो विधाएँ हैं। ये मूलतः पृथक् नहीं हैं। अद्वितीय मानव-व्यक्तित्व ही इनकी उद्गम-भूमिका है। जब मनुष्य का व्यक्तित्व राग और बुद्धि द्वारा निर्मित क्षुद्र एवं कृत्रिम सीमाओं के परे उठकर एकान्विति की अनुभूति करता है तब उसका हृदय एक आत्मिक आनन्द से पूरित हो जाता है। यह आनन्द बुद्धि और राग तथा व्यक्तित्व की अन्य पार्थक्यमूलक प्रवृत्तियों की एकान्विति का पारितोषिक है। काव्य इसी आनन्द की अभिव्यक्ति का प्रयास है।

सामान्यतः उद्वेलन को एकमात्र काव्य-गुण माना जाता रहा है, किन्तु उद्वेलन के साथ परिष्कार की क्रिया भी काव्य-प्रभाव का एक उल्लेखनीय अंग है। जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति सामान्य मानवजीवन की तीन अवस्थाएँ मानी गई हैं, किन्तु इनके परे तुरीया अवस्था की भी अस्तित्व है। जो व्यक्ति

अपेक्षाकृत अधिक संवेदनशील होता है उसका व्यक्तित्व यदा-कदा इन तीन अवस्थाओं के परे लाँघ जाया करता है और उसे तुरीयावस्था की एकान्विति का बोध हो जाता है। कवि इसी चरम अनुभूति के दृश्यमान पक्ष को अपनी अभिभूत वाणी के माध्यम से प्रकट करता है। यह काव्य-तत्त्व का रहस्य है। जो कवि जितने समय तक तुरीयावस्था की अनुभूति करता है तथा वाणी के माध्यम से उस अनुभूति को जितनी सफलता से व्यक्त करता है, वह उतना ही अधिक प्रकृत कवि कहा जायगा।

विवेकानन्द का काव्य इसी चरम अनुभूति का प्रक्षेप है। वह मानव-व्यक्तित्व की एकान्विति से उद्भूत आनन्द की सफल अभिव्यक्ति है। उनके काव्य की पीठिका अन्य कवियों की तरह क्षण-क्षण परिवर्तनशील नहीं है, प्रत्युत वह दृढ़ और चिरस्थायी है। सामान्य कवि को इस एकान्विति का बोध विद्युत्-रेखा की भाँति पल भर के लिये ही होता है और वह नितान्त अभिभूत एवं चमत्कृत हो उठता है। उसमें इतनी क्षमता नहीं होती कि वह इस अवस्था में अधिक समय तक रह सके। काव्य की आत्मा का पूर्ण साक्षात्कार करने के लिए अपेक्षाकृत सबल एवं दृढ़ व्यक्तित्व तथा बृहत्तर संवेदनशीलता और अभिव्यक्ति-क्षमता की अपेक्षा होती है।

विवेकानन्द का व्यक्तित्व सबल एवं दृढ़ था तथा उसमें अनुपम संवेदनीयता और अपूर्व अभिव्यक्ति-क्षमता निहित थी। उन्होंने सामान्य कवियों की भाँति काव्यात्मा की एक

झलक पाकर और तज्जन्य चरमानुभूति से अभिभूत होकर सामान्य भूमि की ओर प्रयाण नहीं किया, प्रत्युत वे उसमें पर्याप्त समय तक विचरण करते रहे तथा काव्यात्मा को प्रत्यक्ष और साक्षात् अनुभूति भी उन्होंने की। उनका काव्य तुरीयावस्था का निष्कलुष एवं अकृत्रिम आस्फालन है। उनकी अभिव्यंजना पर्याप्त सशक्त थी, इसलिये वे चरमानुभूति को व्यंजित करने के लिए अन्य कवियों की भाँति क्लिष्ट उपमानों एवं दुरूह प्रतीकों का संचय नहीं करते। उन्होंने प्रत्यक्ष विधि से चरमानुभूति को मूर्तता प्रदान की है।

विवेकानन्द का काव्य समाधि की सृष्टि है। समाधि तुरीयावस्था का ही दूसरा नाम है। यह वह अवस्था है जिसमें मानव-व्यक्तित्व पूर्णतः एकान्विति प्राप्त कर लेता है। उसकी अनेकमुखी प्रवृत्तियाँ अपनी विभेदकता खोकर एक अपूर्व सामंजस्य का अनुभव करती हैं। उस अवस्था में—

"सूर्य भी नहीं है, ज्योति-सुन्दर शशांक नहीं,
छाया सा व्योम में यह विश्व नजर आता है।"

जहाँ मन की विभिन्न उपपत्तियाँ अपने मिथ्यात्व का प्रत्यक्ष कराने लगती हैं; जहाँ अहंकार की उद्दीप्त धारा में दृश्यमान विश्व विलीन होने लगता है और अन्त में, जहाँ अहंकार का प्रवेग भी एक व्यापक पूर्णता में लय प्राप्त करता है; वहाँ कवि विवेकानन्द उपमा देते हैं—

"बन्द वह धारा हुई, शून्य में मिला है शून्य,
'अवाङ्मनसगोचरम्' वह जाने जो ज्ञाता है"।

विवेकानन्द ने इस सत्य का अनुभव किया है और इसकी अभिव्यक्ति में पूर्णतः सफल हुए हैं। यह काव्य, जीवन और दर्शन का सत्य है, उनकी प्रत्येक पंक्ति काव्यात्मा का तैलधारवत् आकलन है। विवेकानन्द के काव्य को विषय और शैली की दृष्टि से दो विभागों में रखा जा सकता है। प्रथम वर्ग की कविताओं में सत्य की अभिव्यक्ति के लिए प्रत्यक्ष शैली की अवतारणा की गई है। इनमें कवि विवेकानन्द का वह रहस्यवादी रूप प्रकट है जो मात्र रहस्य में ही विराम नहीं पाता अपितु उसकी पूर्णाभिव्यक्ति की चेतना से भी सम्पृक्त है। उनकी कविताएँ रहस्यमय सत्य की नहीं अपितु सत्य की रहस्यत्मकता की विविध अभिव्यंजनाएँ हैं। हम इस वर्ग में कवि की 'समाधि' 'सखा के प्रति' 'गाता हूँ गीत मैं तुम्हें ही सुनाने को' 'नाचे उस पर श्यामा' 'कालीमाता' और संन्यासी का गीत' प्रभृति कविताओं को रख सकते हैं। सत्य के सगुण स्वरूप पर आधृत कविताएँ दूसरे वर्ग में रखी जाएँगी। इन कविताओं में ईश्वर के सगुण रूप पर निवेदित भावनाओं के समर्थन के साथ ही मानवीय मूल्य के विविध आयामों की अद्भुत प्ररोचनाएँ निहित हैं।

'सखा के प्रति' नामक कविता में विवेकानन्द जागतिक प्रक्रिया तथा उसकी नियामक शक्ति के रहस्य का उद्घाटन करते हैं। इस विडम्बनामय जगत् में, जहाँ स्वार्थ का तुमुल कोलाहल व्याप्त है, सुख की आशा करना ही व्यर्थ है। प्रतिकूल परिस्थितियों की उद्दाम एवं निर्मम तरंगों से उद्वेलित दुर्गम जागतिक जलधि का संतरण प्रेम की नौका से ही

सम्भव है। प्रत्येक विश्वगत तत्त्व के मूल में प्रेम-वह्नि प्रज्वलित है। मातृरूपा शक्ति ही प्रेम का उपादान कारण है। वह वाणी और मन के परे है, सुख-दुख के मूल में वह अभिनिविष्ट है। वह जीव को सांसारिक दुख-संभार से परित्राण प्रदान करने के लिए माता के समान कातर होकर मृत्युरूपा बनकर आती है। मनुष्य के सभी कर्म माता की अर्चनाएँ हैं। बुद्धि का तीव्रगामी यान संसृति के, उसके दुःख-सुख के, उसकी आशा-निराशा और उसकी क्षणभंगुरता के परे मेधा को अग्रसर नहीं कर सकता। कवि विवेकानन्द कहते है—हे सखे! तुम प्रेम की यज्ञ-वह्नि में अपनी स्वार्थपरता एवं मलीनता की आहुति दे दो। स्मरण रखो कि तुम्हारा भिक्षुक-हृदय सदैव से सुख-विवर्जित रहा है। अपने हृदय की प्रेमराशि का वितरण तुम बिना प्रतिदान की आकांक्षा किये मुक्त हस्त से करो, क्योंकि—

"ब्रह्म और परमाणु-कीट तक, सब भूतों का है आधार
एक प्रेममय, प्रिय, इन सबके चरणों में दो तन-मन वार।
बहुरूपों से खड़े तुम्हारे आगे, और कहाँ हैं ईश?
व्यर्थ खोज। यह जीव-प्रेम की सेवा ही पाते जगदीश।"

पाश्चात्य दार्शनिक प्लेटो ने चरमतत्त्व की अपरोक्षानुभूति की धारणा को प्रतिपादित किया है। कलाकार को विधाता ने संसाररूपी गुफा में इस प्रकार रखा है कि उसकी पीठ गुहाद्वार की ओर है और उसका मुख गुफा की दीवालों की तरफ। वह चरमतत्त्व को मुँह मोड़कर देख नहीं पाता अपितु गुहाद्वार से आनयित चरमतत्त्व की

प्रतिच्छाया को गुफा की प्राचीरों में ही देख सकता है। यह कलाकार, दार्शनिक और साहित्यकार की सीमा है जिसका निर्धारण उनका सीमित व्यक्तित्व करता है। कवि विवेकानन्द, इस दृष्टि से, काव्य और दर्शन के अपूर्व सोपान में प्रतिष्ठित हैं। वे चरमतत्त्व की प्रतिच्छाया का अंकन ही नहीं करते अपितु वे बार-बार मुड़कर प्रकृति और पुरुष के यथार्थ स्वरूप को भी देखते हैं—

"तुम दोनों हो विद्यमान प्रभु, पीछे आते,
इसीलिए प्रत्यावर्तित होता क्षण-क्षण में।
हास्य-प्रफुल्ल वदन-छवि देख न नयन अघाते,
मैं हूँ निर्भय गायक भय न किसी का जग में।"

'गाता हूँ गीत मैं तुम्हें ही सुनाने को' नामक कविता में इसी अपूर्व दृष्टिकोण की अभिव्यक्ति है। जब प्रकृति और पुरुष के यथार्थ स्वरूप का परिज्ञान कवि को होता है तब चरमतत्त्व के साक्षात्कार की वह प्राञ्जल अनुभूति निःसृत होती है जिसमें ज्ञाता और ज्ञेय का भेद विलीन हो जाता है और कवि की व्यक्तिता मूलतत्त्व के असीम से तादात्म्य-लाभ करती है। वह तत्त्वज्ञ और आत्मानुभूति से सम्पन्न होकर यह घोषणा कर देता है कि उसके गीत प्रकृति और पुरुष या शक्ति और शिव रूपी मूलतत्त्व के प्रति ही निवेदित हैं। वे ही कवि के सर्वस्व हैं। कवि ने अपनी आत्यन्तिक घनिष्ठता का वर्णन इन भावनाओं में किया है—

"मात्र तुम्हीं हो मेरे, तुम ही प्राण बन्धु हो,
होता है आभास कि 'तुम' 'मैं' हो 'मैं' तुम हूँ।

तुम वाणी हो, तुम्हीं कण्ठ में बसे हुए हो,
वीणापाणि-शारदा तुम ही, मैं माध्यम हूँ ॥
है प्रवाह उद्दाम, वेगमय और चिरन्तन,
बह बह जाते, थाह न पाते हैं मानवगण।
ध्वनि-गाम्भीर्य तुम्हारा सदृश जलधि का गर्जन,
शेखर-चन्द्र तुम्हारी वाणी के आवर्तन ॥"

कवि की यह तादात्म्यानुभूति निरे ज्ञान पर आधारित नहीं है; वह पूर्णतः अनुभूत है। चरमतत्त्व के बौद्धिक ज्ञान की अभिव्यक्ति काव्य को दर्शन की गूढ़ वस्तु बना देती है, किन्तु चरमतत्त्व की अनुभूति की अभिव्यक्ति काव्य में विशुद्ध रस को उपद्रुत करती हुई भावक की चेतना को परिष्कृत और उत्थित करती है।

विवेकानन्द कोरे ज्ञानी कवि नहीं हैं, वे विज्ञानी कवि हैं। उन्हें चरमतत्त्व की साक्षात् उपलब्धि का सम्बल है, इसलिए आत्म और परमात्म के सम्बन्ध की अभिव्यञ्जना के लिए उन्हें पौराणिक आख्यानों को गूढ़ दार्शनिक प्रत्ययों के माध्यम से अभिव्यक्त करने की आवश्यकता नहीं पड़ी। आत्मद्रष्टा कवि की भावना का उद्गीरण नितान्त सरल और स्वाभाविक होते हुए भी हृदय पर प्रत्यक्ष रूप से प्रभाव प्रेषित करता है। उपमा और रूपक अपनी जटिल व्यञ्जना को त्यागकर अनुभूति की तीव्रता के संकेतक उपकरण के रूप में प्रयुक्त होने लगते हैं। अहंकार की दुर्गम उपत्यकाओं को पार कर उसके गगनभेदी शिखरों पर आरूढ़ होकर साधक ब्रह्माण्ड में स्थित चिन्मय ब्रह्म के अलौकिक तेजपुञ्ज में अपने

अस्तित्व को फना कर देता है; मानो जल में जल का विलय हो रहा है। साधक की मनोवृत्तियाँ अपनी विभेदकता खोकर चित्प्रकाश में विलीन हो जाती हैं:—

"है महार्घ आलोक सत्य का कोटि-सूर्य से,
जिसमें होते हैं विलीन विधु, सूर्य, ज्योतिदल,
और मर्त्य के नीचे का पाताल लोक भी,
नहीं बड़ा गोष्पद से भासित हुआ किसी पल॥"

इस दशा में मन अपनी बहिर्गामिता को भूलकर स्थिर हो जाता है, हृदय के बन्धन खुल जाते हैं, माया और मोह का तमस्तोप ब्रह्मालोक में विनष्ट हो जाता है। वही कवि विवेकानन्द स्थिर चित्त से अनाहत नाद का श्रवण करते हैं।

इस अवस्था में कवि को अलौकिक अनुभूति होती है। वह नानारूपात्मक जगत् के परे, अपनी व्यक्तिता की सीमाओं से ऊपर उठकर यह देखने लगता है कि प्रलयकाल में, जब मानो अंधकार अंधकार में ही विलीन होने लगता है तब वही सृष्टि के मूल उद्भिज के रूप में विद्यमान है, और जब सृष्टि की प्रक्रिया अणुओं के सम्पुंजन में व्यक्त होती है तब वही वहाँ शाश्वत है। शून्य में व्याप्त सृष्टि के विकास में वह शाश्वत और निरंतर ओंकार के रूप ध्वनित होकर अणु-अणु में गति की संचारणा करता है। उसे पुनः अनुभूति होती है कि वह ही आदिकवि है। उसकी शक्ति से यह चराचर निर्मित हुआ है। वह अपनी शक्तिरूपिणी माया के साथ क्रीड़ा करते हुए सृष्टि-व्यापारों की सर्जनाएँ करता है।

'नाचे उस पर श्यामा' कवि की मूल उपलब्धि का प्रतीक

है। इसमें कवि ने प्राकृतिक व्यापारों के प्रति मानव-मन की परिवर्तनशील आस्था का निरूपण कर उसकी विडम्बना प्रदर्शित की है। पुष्पों के मकरंद से सुरभित, भ्रमर-कुल के मधुगुंजार से ध्वनित, जलवती चंचल सरिताओं के स्वर्गिक संगीत से गुंजित, नूतन किसलयों के हास-परिहास से सुमुदित और बाल रवि की अलभ्य किरणों से अभिहित वसुंधरा का रूप सदा ही मानव-मन को आकर्षित करता रहा है। किन्तु प्रलयंकर भीम बादलों की गर्जना, अशनिपात की झनझनाहट, सूचीभेद्य अन्धकार की अप्रतिहत प्रगाढ़ता, उद्वेलनकारी प्रभंजन की चुनौती और असंख्यों विद्युत-वल्लरियों का समवेत नर्तन भला किसके मन में आह्लाद की सृष्टि कर सकेगा! आदिभूता मातृरूपिणी शक्ति की प्रलयंकरा मूर्ति की उपासना की शक्ति किसमें है? विवेकानन्द कहते हैं, हे सत्यस्वरूपा माँ! तू ही इस ब्रह्माण्ड का सत्याधार है। लोग तुझसे प्रेम करने का ढोंग करते हैं पर तेरी मूर्ति का साक्षात्कार करने का साहस उनमें कहाँ? माँ! तेरा दिगम्बरा रूप देखकर तो संसारी लोगों के प्राण सूखे पत्ते की तरह काँपने लगते हैं और 'असुरविजयिनी' 'दयामयी' इत्यादि अभिधाओं से युक्त कर अपनी विक्षुब्ध भय-जलधि को शान्त करने का प्रयास करते हैं। विवेकानन्द लोगों से इसी भयंकरा प्रतिमा को संतान-भाव से साधित करने का आग्रह करते हैं।

'कालीमाता' सत्यस्वरूपिणी और सत्याधारमयी माँ के स्वरूप का प्रभविष्णु आकलन है। आतंक ही माता का नाम

है, उसकी साँस में मृत्यु निहित है, उसके चरण युग-समाप्ति के सूचक हैं—विश्व के उत्थान और पतन के संकेतक हैं। सर्वनाशिनी माँ उसी साहसी के समीप आती है जो दुःख का आलिंगन करता है, जो मृत्यु से रागमय प्रेम स्थापित करने के लिए विकल है और जिसके चरण सृष्टिरूपी वाद्य से निःसृत नाशरूपी ताल के प्रत्येक आवर्तन की लय पर नृत्यमान हैं।

'संन्यासी का गीत' में कवि विवेकानन्द, जगत् की नाना-विधात्मक और परिवर्तनशील प्रवृत्तियों की क्षणभंगुरता को जानकर, मूलतत्त्व के उपलब्धिमय ज्ञान को प्राप्त करने की वेगवती इच्छा को प्राणों में अनुभव करनेवाले मनुष्यों को चरम अनुभूति के मार्ग में दीक्षित करते हैं। वे हिमवान् की क्रोड़ में साधनारत मनीषियों के द्वारा उपलब्ध मूलतत्त्व की चरम-अनुभूति 'ॐ तत् सत् ॐ' के गायन का आग्रह संन्यासियों से करते हैं। यहाँ कवि विवेकानन्द आचार्य विवेकानन्द के आसन पर प्रतिष्ठित होकर संन्यास-मार्ग में दीक्षित होने के लिए जिज्ञासुओं का आह्वान करते हैं। इस चरमसत्य का अनुभव तथा हृदयाकाश में तज्जन्य विस्फारित ज्ञान-मार्तण्ड की तिमिरभेदिनी मरीचिकाएँ, माया, मोह, घृणा, द्वेष तथा अन्य निम्नमुखी-प्रवृत्तियों द्वारा प्रसारित तमसावरण का शीघ्र निराकरण कर देती हैं। आत्मा तो चिरमुक्त, अद्वितीय और अतुल्य है। उसे जल आर्द्र नहीं बना सकता, वायु उड़ा नहीं सकती, वह्नि जला नहीं सकती। वह नाम, रूप और गुण से विरहित है। माया उसी के आश्रय में पुष्ट होती है।

मुक्ति लोक या तीर्थाटन से प्राप्त करने की वस्तु नहीं है, वह वीतशोकमय स्थिति में निहित है। संन्यासी के लिए आकाश ही वितान है और हरीतिमामण्डित वसुन्धरा ही उसकी शय्या है—उसके लिए कोई विराम नहीं, कोई अवरोध नहीं। कवि उसे सरिता की भाँति अप्रतिहत प्रवेग से सम्पन्न देखना चाहता है। वह उसे प्रशंसा और निन्दा से परे, सुख और दुःख के ऊपर उठाकर द्वन्द्वहीन देखना चाहता है। इस विधि से माया और कर्म का बन्धन निरन्तर क्षीण होने लगता है और साधक अहंकार की सीमा से ऊपर उठकर ब्रह्मत्व की उपलब्धि कर लेता है। प्रस्तुत कविता में विवेकानन्द अपने वक्तव्य को अत्यंत संक्षेप में और प्रवेग के साथ अभिव्यक्त करते हैं। कवि इस स्तर पर भावनामय उपलब्धि के शिखर को स्पर्श करते हुए विशुद्ध काव्यानन्द को उत्सृष्ट करता है।

कवि विवेकानन्द की कविताओं का दूसरा वर्ग स्तुति-परक है। यहाँ हम रहस्यवादी विवेकानन्द को भक्त विवेकानन्द के रूप में देखते हैं। हमें यह प्रतीत होने लगता है कि निराकार और साकार परस्परविरोधी नहीं हैं, वे मूलतः एक हैं। हम विवेकानन्द के कृतित्व में काव्य और साहित्य की युगगत विभेदकता को विलीन होते हुए देखते हैं तथा उसे मूलगत एकता की पीठिका पर प्रतिष्ठित पाते हैं। कवि ने भावव्यञ्जना के जिस सशक्त माध्यम के द्वारा निर्गुण एवं निराकार ब्रह्म की चरम अनुभूति की अभिव्यंजना की थी, वह साकार-रूप के व्यञ्जन में एक अद्भुत प्रत्यासथता से युक्त प्रतीत होने लगता है। प्रत्येक भाव इष्ट के प्रति निवे-

दित होते हुए भी असीम ब्रह्म की व्यञ्जना करता है। यह प्रकृत काव्य है। इसमें विरोध या व्यञ्जना की सीमाएँ नहीं रहतीं अपितु हमें समरसता एवं एकान्विति के सर्वत्र दर्शन होते हैं; हमें ऐसा प्रतीत होता है कि काव्यानन्द और उसकी प्रभविष्णुता के रहस्यों का अभिज्ञान विवेकानन्द के काव्य के माध्यम से सम्भव है। हम कवि विवेकानन्द के स्तुतिपरक गीतों में साकार की निराकार-व्यञ्जना की प्रणाली के उत्कृष्ट रूप के दर्शन करते हैं। वहाँ शिव, पार्वतीपति और कार्तिकेय-पितृ नहीं हैं अपितु वे पूर्णतः निर्गुण होते हुए भी सगुण हैं। कवि उनमें ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति, स्थिति और लय के स्रोत का दर्शन करता है। उनका वर्ण निर्मल व्योम के समान है। वे स्वयंभू हैं। उन्होंने अज्ञानान्धकार को इच्छा-मात्र में विनष्ट किया है। वे ब्रह्मत्व की साक्षात् प्रतिमूर्ति हैं। ये वे ही रूपक और उपमाएँ हैं जिनके माध्यम से सदा ही निर्गुण ब्रह्म की व्यंजना की जाती रही है। इन्हीं रूपकों और उपमाओं के माध्यम से साकारोपासना की प्रणाली का निर्माण कवि विवेकानन्द की एक महान् उपलब्धि है।

कवि विवेकानन्द की काव्यगत भावनाओं का आकलन करते समय हमें उनकी नवनवोन्मेषशालिनी कल्पना और गम्भीर एवं निगूढ़ भावनाओं को वहन करने में पूर्णतः समर्थ शैली का पर्याप्त बोध हो गया है। विचारकों की धारणा है कि जिस कवि की भावना जितनी ही निगूढ़ और रहस्यमय होती है, उसकी अभिव्यञ्जना समान रूप से क्लिष्ट तथा दुरूह हो जाती है। इसी निकष पर कबीर की उलटबासियों

और सिद्धों एवं नाथपंथी योगियों की रहस्यात्मक एवं विशृंखल उक्तियों में काव्यतत्त्व के अन्वेषण का प्रयास किया गया है। वस्तुतः यह धारणा एक भ्रांत मान्यता पर आधारित है। यह आवश्यक नहीं कि रहस्यवादी कवि की उक्तियाँ अनिवार्य रूप से क्लिष्ट उपमाओं और रूपकों से सम्पृक्त हों। यह क्लिष्टता, असल में, कवि के जीवनदर्शन के उलझाव को व्यक्त करती है। जब कवि को चरमतत्त्व की अनुभूति हो जाती है तब उसकी वाग्धारा अत्यन्त सहज रूप में प्रवाहित होती है। यह व्यवधान कबीर के विरहपरक साखी, सबद और रमैनी में तथा आत्मसाक्षात्कारमयी भावनाओं की अभिव्यंजना में स्पष्ट है। विवेकानन्द के काव्य में इस प्रकार का गहन अन्तराल दिखाई नहीं पड़ता। वहाँ हम एक आत्मज्ञानी साधक की वाग्धारा को मानवीय क्षमता के मूलभूत और सर्वोच्च प्राप्तव्य के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए समग्रगत मानव-समाज को इसकी प्राप्ति के मार्ग में दीक्षित करते हुए देखते हैं। उनकी भावधारा क्लिष्टता की ऊँची-नीची पर्वतीय उपत्यकाओं में हिमसरिता की तरह अत्यन्त मन्द गति से प्रवाहित नहीं होती अपितु उसका वेग इतना तीव्र है कि वह हमें स्थिर-सी प्रतीत होती है और जब हम उसमें अवगाहन करते हैं तब उसकी तीव्रता से पूर्णतः अभिभूत हो जाते हैं। वह राग का प्रवेग नहीं है। वह बुद्धि का प्रवाह भी नहीं है। वह आत्माभिव्यक्ति है। वह काव्यात्मा का मुक्त उद्गीरण है। हम विवेकानन्द को राग का कवि नहीं कह सकते, बुद्धि का कवि भी नहीं कह सकते। इसी प्रकार, हम यह भी नहीं

कह सकते कि विवेकानन्द की कविता रागमय नहीं है—बुद्धिमय नहीं है। हमें उनकी प्रत्येक पंक्ति से एक अपूर्व अनुभूति होती है—ऐसी अनुभूति जो एक साथ राग और बुद्धि, दोनों को अभिभूत कर देती है; हृदय और मेधा दोनों को एक साथ चमत्कृत करती है। गीता के अतिरिक्त अन्य किसी काव्य में राग और बुद्धि का ऐसा संगुम्फन, ऐसा भेदहीन एवं पूर्ण संग्रथन हम नहीं पाते। गीता के पश्चात् प्रकृत काव्य के स्वरूप का दर्शन हमें पुनः विवेकानन्द के काव्य में होता है। वहाँ गीता में निबद्ध अनुभूतियाँ अपेक्षाकृत अधिक सौकार्य और अनुभूति की नई शक्ति के साथ आकलित हैं। अतः हम विवेकानन्द के काव्य को गीता का एक अग्रिम विकास मान सकते हैं। राग और बुद्धि की एकान्विति प्रकृत काव्य का मूलभूत गुण है और विवेकानन्द का काव्य इस एकान्विति से आदि से अन्त तक अभिषिक्त है।

स्वामी विवेकानन्द के अर्थनीतिक सिद्धान्त

श्री शिवचन्द्र दत्त, एम ए., बी. एल.

स्वामी विवेकानन्द एक महान् आध्यात्मिक दिग्गज थे। उनकी बौद्धिक प्रतिभा भी किसी भाँति कम न थी। मनुष्यों और अन्य बातों का वे सूक्ष्म पर्यवेक्षण करते थे। आधुनिक भारत के जन्म और विकास में उनके विचारों का सबसे अधिक हाथ रहा है। भारत के कोटि-कोटि संघर्षरत मानवों के प्रति उनका प्रेम और सहानुभूति केवल गहरी ही नहीं अपितु अपूर्व थी। एक ओर आध्यात्मिक जगत् में उनकी व्याप्ति और उपलब्धियाँ इतनी महती थीं, तो दूसरी ओर दरिद्रों और असहायों के लिए उनका हृदय रोता था। दीन-दुखियों के प्रति इसी करुणा ने स्वामीजी को आर्थिक प्रश्नों और समस्याओं पर लगातार सोचने को बाध्य किया था। इसीलिए जो लोग विवेकानन्द की विचार-सरणी का सुव्यवस्थित अध्ययन करना चाहते हैं, उन्हें इस महान् हिन्दू सन्त के अर्थनीतिक विचारों से भी परिचित होना पड़ेगा।

विज्ञान, इंजीनियरिंग आदि:- आधुनिक विज्ञान, भौतिकशास्त्र, रसायनशास्त्र, इंजीनियरिंग आदि के विकास ने आधुनिक अर्थशास्त्र और अधुनातन धार्मिक जीवन को जन्म दिया है। अतः आज के अर्थशास्त्र के प्रति इस महान् संन्यासी के दृष्टिकोण को समझने के लिए हमें पहले आधुनिक विज्ञान, इंजीनियरिंग आदि के प्रति उनके दृष्टिकोण को देखना

होगा। निम्नलिखित उद्धरण इस दृष्टिकोण के अध्ययन में सहायक होंगे:—

'आज हमारे राष्ट्र को आवश्यकता है कार्य में क्षिप्रता की, ऐसी प्रतिभा की जो वैज्ञानिक आविष्कार कर सके। इसलिए मेरी इच्छा है कि "क" इलेक्ट्रिशियन बने। भले ही वह उसमें सफल न हो सके, पर मुझे इसी बात पर प्रसन्नता होगी कि उसने बड़ा बनने का और अपने देश के लिए उपयोगी सिद्ध होने का प्रयत्न किया।'

'मैं तो ऐसा सोचता हूँ कि आधुनिक विज्ञान से अपरिचित एक नीमहकीम के हाथों चंगा होने की आशा रखने के बदले किसी वैज्ञानिक प्रशिक्षण-प्राप्त चिकित्सक के हाथों मर जाना अधिक अच्छा है।'

इस संदर्भ में, सर जगदीशचन्द्र बसु के प्रति स्वामीजी के मुख से निर्गत प्रशंसात्मक उद्गारों को यहाँ लिपिबद्ध करना मैं उचित समझता हूँ। बात उस समय की है, जब सर जगदीशचन्द्र बसु सन् १९०० ई० में पेरिस-प्रदर्शनी के उपलक्ष में आयोजित वैज्ञानिकों के सम्मेलन में आमंत्रित होकर गये थे। स्वामीजी ने कहा था, 'अहो मेरी मातृभूमि, यहाँ (पेरिस में) तेरा नामलेवा कौन है! फ्रांस की इस विशाल राजधानी में जर्मनी, फ्रांस, इंग्लैण्ड, इटली और अन्य देशों के वैज्ञानिक उमड़ रहे हैं, पर तेरे अस्तित्व की घोषणा करनेवाला तेरा लाल कहाँ है? मैंने देखा, उन गौरांग प्रतिभावानों के दल में उस प्रतिष्ठित युवक वीर को, हमारी मातृभूमि के नाम की घोषणा करनेवाले बंगाल के

उस लाल को—सुविख्यात वैज्ञानिक डाक्टर जगदीशचन्द्र बसु को! बंगाल के इस एकाकी तरुण इलेक्ट्रिशियन ने वैद्युतिक शीघ्रता से आज पश्चिम के श्रोताओं को अपनी अद्भुत प्रतिभा से मोह लिया और उस विद्युत्-प्रवाह ने मातृ-भूमि को अर्ध-मृत देह में नवीन प्राण-संचार कर दिया। आज इलेक्ट्रिशियनों के बीच उस भारत के लाल, बंगाल के सितारे जगदीशचन्द्र बसु का स्थान सर्वोच्च है! कमाल किया है वीर तूने।'

मशीन और यंत्रः- स्वामीजी यूरोप से होते हुए जब दूसरी बार अमेरिका गये, तो अपनी यात्रा के रोचक संस्मरणों को 'परिव्राजक' पुस्तक के रूप में लिपिबद्ध किया। इन संस्मरणों में ऐसे प्रसंग हैं, जिनसे मशीन, यंत्र आदि के प्रति स्वामीजी के दृष्टिकोण का पता चलता है। इस प्रकार के कतिपय विचारों को हम नीचे लिपिबद्ध करते हैं:—

'जहाज का आविष्कार किसने किया? किसी व्यक्ति—विशेष ने नहीं। तात्पर्य यह कि उन सभी मशीनों की भाँति, जो मनुष्यों के लिए अनिवार्य हैं, जहाज भी सामूहिक श्रम की उपज है। इस सामूहिक श्रम के बिना क्षण भर के लिए भी मनुष्यों का काम नहीं चल सकता और कारखानों की तरह-तरह की मशीनें इसी श्रम के परस्पर योग और अदल-बदल से जन्मी हैं। उदाहरण के लिए, चक्कों को लो; कितने अनिवार्य हैं वे! चरमराती बैलगाड़ी से लेकर जगन्नाथ के रथ तक, करघे से लेकर कारखानों की भीमकाय मशीनों तक सब जगह चक्के की उपयोगिता है।'

'मशीन का थोड़ासा अनुपात अच्छा है, पर उसकी अधिकता मनुष्य की कार्यप्रेरणा को खत्म कर देती है और उसे निर्जीव मशीन बना देती है। कारखानों में मनुष्य दिन-पर-दिन, रात-पर-रात, वर्ष-पर-वर्ष वही एक सा, प्राणहीन कार्य किये जा रहे हैं; उनका एक-एक दल कार्य के अंश-विशेष में जुटा हुआ है—जैसे, पिन की घुंडियाँ बनाना या तागे के दो छोरों को जोड़ना अथवा ताने-बाने के साथ आगे-पीछे आना-जाना—और यह क्रम सारा जीवन चलता रहता है। परिणाम यह होता है कि यदि वह विशेष काम बन्द हो जाय, तो उन्हें जीविकोपार्जन का कोई दूसरा तरीका नहीं सूझता और वे भूखों मरते हैं। मशीन के समान एक-सा कार्य करते रहने से मनुष्य स्वयं निर्जीव मशीन-सा हो जाता है।'

उपर्युक्त उद्धरणों से प्रतीत होता है कि स्वामीजी मशीनों के अन्धभक्तों में से न थे; उन्होंने मशीनों के पक्ष में जो कुछ कहा है, वह सर्वथा विचारपूर्ण है। स्वामीजी की यह निश्चित धारणा थी कि हिन्दुओं को पश्चिम की भौतिकवादी सभ्यता को भी अपनाना होगा। स्वामीजी के इसी दृष्टिकोण की पृष्ठभूमि में हमें उपर्युक्त उद्धरणों को समझना है।

वाणिज्य:—आधुनिक जीवन में वाणिज्य के महत्त्व के प्रति विवेकानन्द पूरी तरह सजग थे। न्यूयार्क से सन् १८९५ ई० में वे अपने एक पत्र में लिखते हैं, 'दे बाबू से कहना कि इंग्लण्ड और अमेरिका में मूँग और अरहर दाल का अच्छा खासा व्यापार चल सकता है। यदि बनी हुई दाल उनके सामने

ठीक ढंग से रखी जाय, तो उसका काफी चलन हो जायगा। यदि दाल के छोटे-छोटे पुड़े बना दिये जायँ और उन पुड़ों में दाल बनाने की विधि छाप दी जाय, यदि इन पुड़ों को ग्राहकों के घर पर भेजा जाय और कहीं पर एक छोटीसी दूकान खोल ली जाय, तो अच्छा खासा व्यापार चलाया जा सकता है। यदि कोई एक व्यापारिक संघ बना ले और भारत से इस देश में विक्रयार्थ वस्तुएँ ले आये, तो उसका व्यापार उत्तम रीति से चल सकता है।'

स्वामीजी के एक शिष्य थे—शरच्चन्द्र चक्रवर्ती। वे लड़कों को ट्यूशन पढ़ाया करते थे। स्वामीजी ने उन्हें किसी व्यापार में लग जाने को प्रेरित किया था। स्वामीजी ने कहा था, 'यदि तुम सांसारिक मनुष्य की भाँति रहना चाहते हो और पैसा कमाना चाहते हो, तो अमेरिका चले जाओ। मैं तुम्हें आवश्यक निर्देश दे दूँगा। तुम देखोगे कि पाँच ही साल में तुमने ढेर भर कमा लिया है।' इस पर शिष्य ने पूछा था, 'मैं वहाँ किस चीज का व्यापार करूँगा? मेरे पास तो पैसा ही नहीं है। पैसा कहाँ से आयेगा?' तब स्वामीजी ने उत्तर दिया था, 'क्या मूर्खता की बातें करते हो? तुममें अदम्य शक्ति भरी है। केवल "मैं कुछ नहीं हूँ, मैं कुछ नहीं हूँ" करते रहने से तुम सचमुच वीर्यहीन हो गये हो। तुम अकेले की ही बात नहीं! सारी हिन्दूजाति वैसी हो गयी है। एक बार विश्व का भ्रमण करके तो देखो—देखोगे कि दूसरे देशों का जीवन-प्रवाह कितनी उद्दामता से बह रहा है। और तुम लोग क्या कर रहे हो! इतना पढ़-लिख लेने के

बाद भी, "नौकरी दो, मुझे नौकरी दो" चिल्लाते हुए तुम दूसरों का दरवाजा खटखटाते फिरते हो।'

उपर्युक्त वार्तालाप के प्रसंग में स्वामीजी ने यह भी कहा था, 'यदि तुम्हारे पास टिकट का पैसा नहीं है, तो खलासी का काम करते हुए विदेशों में जाओ। भारत में बने कपड़े, टावेल, बाँस के सामान तथा अन्य देशी चीजें ले जाओ और यूरोप एवं अमेरिका की सड़कों पर फेरी लगाओ। तुम देखोगे कि आज भी विदेशी बाजारों में भारतीय चीजों की कितनी पूछ है! मुझे अमेरिका में हुगली जिला के कुछ मुसलमान मिले, जो इसी प्रकार भारत में बनी चीजों की फेरी लगा-लगाकर आज धनी बन गये हैं। तुममें क्या उन लोगों से भी कम बुद्धि है? उदाहरण के लिए, सुन्दर बनारसी साड़ियों को ले लो। संसार के अन्य किसी भी भाग में उस प्रकार की साड़ी नहीं बनती। अमेरिका में इन साड़ियों को ले जाओ और साड़ियों के वस्त्र से गाउन बना-बनाकर बेचो। फिर देखना कि तुम कितना कमाते हो।'

उपर्युक्त उद्धरणों से यह पूर्णतः स्पष्ट है कि यद्यपि स्वामीजी एक संन्यासी थे, अध्यात्मवादी थे और जीवन के कतिपय पहलुओं के प्रति यथार्थ अर्थों में संरक्षणशील प्रवृत्ति के थे, तथापि विज्ञान, इंजीनियरिंग, मशीन, वाणिज्य आदि के प्रति उनका दृष्टिकोण नितान्त आधुनिक था। 'परिव्राजक' के निम्नोक्त उद्धरण इस तथ्य को पुष्टि करते हैं:—

'प्राचीन काल से मानवी सभ्यता को उसके अधुनातन स्वरूप पर लाने में जो बातें कारणस्वरूप रही हैं, उनमें भारत

के वाणिज्य का स्थान कदाचित् सबसे महत्त्वपूर्ण है। स्मरणातीत काल से भारत उपज और उद्योग-वाणिज्य के क्षेत्र में विश्व के अन्य सभी क्षेत्रों की अपेक्षा सबसे आगे रहता आया है। एक ही शतक पूर्व की बात है, सूती वस्त्र, कपास, जूट, नील; लाख, चावल, हीरे और मोती आदि सम्बन्धी विश्व की समूची आवश्यकता एकमात्र भारत ही पूरी करता रहा है। भारत के समान उत्कृष्ट कोटि का रेशमी और किनकाब-जैसे ऊनी वस्त्र बनानेवाला देश और कोई भी नहीं था। फिर, भारत ही तरह-तरह के मसाले बनानेवाला देश रहा है। यहाँ की लौंग, इलायची, गोल मिर्च, जायफल और जावित्री आदि प्रसिद्ध रहे हैं। अतः स्वभावतः बहुत पुरातन काल से, जो भी देश जिस किसी युग में सभ्यता के आलोक से आलोकित हुआ, तब उसे भारत पर ही उन सब सामग्रियों के लिए निर्भर रहना पड़ा...।

'ऐ भारत के श्रमिक वर्गों, यह तुम्हारे ही निरन्तर नीरव श्रम का फल है कि बाबिल, फारस, सिकन्दरिया, यूनान, रोम, वेनिस, जिनोआ, बगदाद, समरकन्द, स्पेन, पुर्तगाल, फ्रांस, डेनमार्क, हालैण्ड और इंग्लैण्ड क्रम से प्रभुत्व और प्रतिष्ठा के शिखर पर पहुँचे हैं!'

गरीबी की समस्याः—भारत के आर्थिक जीवन का जो पहलू स्वामीजी के ध्यान को सबसे अधिक आकर्षित करता है, वह है गरीबी की समस्या। वे कहते हैं, 'भारत में सारी विपत्तियों की जड़ है—वहाँ के जनसाधारण की गरीबी।'

गरीबी आध्यात्मिक उन्नति में बाधक है:— स्वामीजी किसलिए गरीबी का उन्मूलन करना चाहते थे? इसलिए कि जैसा वे हमेशा कहा करते थे, खाली पेटवालों को धर्म की शिक्षा नहीं दी जा सकती।

'पूर्व की ज्वलन्त आवश्यकता धर्म नहीं है, धर्म उनके पास यथेष्ट है। वह तो रोटी है, जिसके लिए भारत के लाखों विपन्न लोग सूखे गले से चिल्ला रहे हैं। वे माँगते हैं रोटी, और हम उन्हें देते हैं पत्थर। अनाहार से पीड़ित लोगों के समक्ष धर्म परोसना उनका अपमान करना है।'

'अपने धर्म के क्रिया-अनुष्ठानों को फिलहाल ताक पर रख दो और पहले जीवनसंग्राम के लिए तैयारी करो।'

'भूखे पेट धर्म की साधना नहीं की जा सकती।'

'हममें से जो लोग अभी उच्चत्तम सत्यों के लायक नहीं हुए हैं, उनमें से अधिकांश के लिए, अपनी आवश्यकताओं के अनुरूप, किसी प्रकार का विष-विरहित हुआ भौतिकवाद वरदान सिद्ध होगा।'

साधारण जन के लिए सुखोपभोग आवश्यक:— स्वामीजी का मत था कि लोगों के लिए केवल साधारण खान-पान, वस्त्र और आवास अर्थात् अनिवार्य आवश्यकताओं की ही व्यवस्था न हो, अपितु उन्हें सुखोपभोग के भी अवसर प्राप्त होने चाहिए। वे कहते थे कि आध्यात्मिक दृष्टि से भी वह वांछनीय है। जो लोग मन से भोगों और सुखों की लालसा करते रहते हैं, उन पर आध्यात्मिक उन्नति थोपी नहीं जा सकती। एकदम से सम्पूर्ण त्याग का जीवन अप-

नाने का जिनमें सामर्थ्य और साहस नहीं है, उन्हें सांसारिक सुखों के खोखलेपन की प्रतीति और अनुभूति के लिए अवसर दिया जाना चाहिए।

'वस्तुओं की असारता को देखकर और उनका अनुभव करके उनका त्याग कर देना चाहिए—यही आदर्श है। जब यह देख लिया कि भौतिक जगत् निस्सार और खोखला है, केवल राख से भरा है, तब उसका त्याग करके वापस चले जाना चाहिए। मन मानो वृत्ताकार में इन्द्रियों की ओर जा रहा है, इसी को प्रवृत्ति कहते हैं। इसी मन को पीछे आना चाहिए, वापस आना चाहिये। इसे निवृत्ति कहते हैं। प्रवृत्ति को बन्द होना चाहिये और निवृत्ति को कार्यरत। यही आदर्श है। पर इस आदर्श की अनुभूति जीवन के सुखों का कथंचित् अनुभव हो जाने के पश्चात् ही हो सकती है।'

'किन्तु जीवन के प्रति इस अभिनिवेश का त्याग करना बहुत कठिन है; बहुत कम ही लोग ऐसा कर सकते हैं। हमारे शास्त्रों में इसके लिए दो उपाय बताये गये हैं। एक है नेति-नेति का मार्ग और दूसरा है इति का। पहला निषेधात्मक है और दूसरा विधेयात्मक। निषेध का मार्ग, नेति-नेति का रास्ता सबसे कठिन है। वह केवल इने-गिने बहुत उदात्त मानसवाले, प्रबल इच्छाशक्ति सम्पन्न व्यक्तियों द्वारा ही सधता है......। अधिकांश लोग तो इति का—संसार में से होकर जाने का रास्ता ही अपनाते हैं। यह उस प्रकार है जैसे काँटे से काँटा निकालना, बन्धनों की सहायता से स्वयं उन्हीं बन्धनों को काट डालना।'

'पश्चम के लोगों में रजोगुण की अधिकता है और इसलिए आज वे सुखोपभोग की सीमा में पहुँच गये हैं। क्या तुम समझते हो कि उनके बदले तुम योग में सिद्धि प्राप्त करोगे—तुम जो पेट भरने के लिए इधर-उधर भटकते फिरते हो!'

भौतिकवाद और अध्यात्मवाद में कोई विरोध नहीं- जैसा कह चुके हैं, स्वामीजी महान आध्यात्मिक दिग्गज थे। उनमें यह घोषणा करने का साहस था, अन्तर्दृष्टि और गहराई थी कि भौतिक प्रगति और आध्यात्मिक उन्नति में कोई मौलिक विरोध नहीं है। वे कहते हैं, 'जब आत्मा की अनन्त शक्ति जड़ पर अपना कार्य करती है, तो उससे भौतिक प्रगति का जन्म होता है; जब वह विचारों पर कार्य करती है, तो उससे बौद्धिक विकास होता है और जब वह शक्ति स्वयं आत्मा पर ही कार्य करती है, तब मनुष्य देवता बन जाता है।' यह उक्ति उस महान् आत्मा विवेकानन्द के गम्भीरतम और सबसे उद्बोधक उद्गारों में से एक है। हमारी इस महान् मातृभूमि की उन्नति बहुत-कुछ इस पर निर्भर है कि हम स्वामीजी के उपर्युक्त महत्त्वपूर्ण कथन के गूढ़ मर्म को कहाँ तक समझते हैं और कार्य में उतारते हैं।

आदर्श सभ्यता—दोनों सभ्यताओं का समन्वित परिपाकः—जसा हमने देखा कि विवेकानन्द के मतानुसार भौतिकवाद और अध्यात्मवाद में कोई अन्दरूनी या मौलिक विरोध नहीं है। उसी प्रकार उनके मत स पूर्व और पश्चिम की सभ्यताओं में भी विरोध नहीं है। प्रत्युत वे दोनों एक दूसरे

को पूरक हैं और भविष्य की आदर्श सभ्यता उन दोनों के समन्वित परिपाक से जन्म लेगी।

'पश्चिम की वर्तमान सभ्यता दिन-पर-दिन मनुष्यों की चाहों और विपदाओं को बढ़ा रही है। दूसरी ओर, भारत की प्राचीन सभ्यता लोगों को आध्यात्मिक उन्नति का रास्ता बता करके उनकी भौतिक आवश्यकताओं को, सम्पूर्ण रूप से सदा के लिए भले न सही, पर बहुत अंश में दूर करने में निःसन्दिग्ध रूप से सफल हुई है। वर्तमान युग में भगवान् श्रीरामकृष्ण का आविर्भाव इन दोनों सभ्यताओं को एक में मिला देने के लिए हुआ है। आज के युग में मानव को एक ओर जहाँ अत्यन्त व्यावहारिक बनना है, वहीं दूसरी ओर उसे गूढ़ अध्यात्म-विद्या भी प्राप्त करनी है।'

'भारत को यूरोप से बाह्य प्रकृति पर विजय प्राप्त करना सीखना है, और यूरोप को भारत से आन्तर प्रकृति को जीतने की कला सीखनी है। तब न हिन्दू रहेंगे, न यूरोपियन; तब रहेगी वह आदर्श मानवता जो बाह्य और आन्तर दोनों प्रकृतियों पर विजय प्राप्त कर चुकी होगी।'

परा और अपरा विद्या का सार-गरीबी के उन्मूलन का उपायः—

हम पुनः गरीबी के प्रश्न पर आते हैं। बीच में हम एक दूसरे प्रश्न पर विचार करने लग गये थे, पर वह एकदम अप्रासंगिक न था। स्वामीजी ने गरीबी के पाप को दूर करने के लिए कौन से उपाय सुझाये हैं? ये उपाय क्रमबद्ध रूप से विवेचित नहीं हुए हैं, क्योंकि स्वामीजी ने एक अर्थशास्त्री

की भाँति उन पर वैज्ञानिक ढंग से विवेचन करने का दावा नहीं किया है। तथापि, इस प्रश्न के प्रति उनके दृष्टिकोण को हम उनके भाषणों और लेखों से पकड़ सकते हैं।

उनके मतानुसार जो प्रथम दो उपाय हमें दीखते हैं, वे हैं—(१) परा विद्या अर्थात् अध्यात्म विद्या का प्रसार, जिससे वेदान्त को व्यावहारिक धरातल पर लाकर लोगों के दिन-प्रतिदिन के जीवन में उतारा जा सके; और (२) अपरा विद्या अर्थात् लौकिक विद्या का प्रसार।

स्वामीजी कहते हैं, 'हमने वह (अन्नदान) बहुत किया, अब हम अन्य दो का दान करें—परा और अपरा विद्या का दान।'

'कुछ कैमरा, नक्शे, विश्व का गोल और कुछ रासायनिक द्रव्य इकट्ठे करो। इसके बाद एक बड़ी झोंपड़ी। तत्पश्चात् निर्धन जनता को इकट्ठा करो और उन्हें भूगोल एवं खगोल विद्या आदि सम्बन्धी चित्र दिखाओ तथा रामकृष्ण परमहंस की बातें बताओ। संसार में क्या होता है, क्या हो रहा है, संसार क्या है—इस सम्बन्ध में उनकी आँखें खोलने का प्रयत्न करो। गरीब अपढ़ लोगों के बीच जाओ—उनके घरों में पहुँचो—दोपहर में जाओ, शाम को जाओ—जब भी वे मिल जायँ, और उनकी आँखें खोलो। पुस्तकें किसी काम की नहीं—उन्हें मुखाग्र शिक्षा दो।'

'अद्वैत का एक दोष यह रहा है कि अब तक आध्यात्मिक स्तर पर ही उसका कार्य होता रहा है, जीवन के अन्य किसी स्तर को उसने स्पर्श नहीं किया। पर अब उसको व्यावहारिक

बनाने का समय आ गया है। अब वह और रहस्य बना हुआ न रहेगा, अब और हिमालय की गिरि-कन्दराओं में, निभृत वनों में संन्यासियों के साथ न रहेगा; उसे अब लोगों के प्रतिदिन के जीवन में उतरना होगा; राजा के महल में और तपस्वी की कुटिया में समान रूप से उसका कार्य होगा; गरीब की झोपड़ी में और सड़क के भिखारी में— सर्वत्र, सबमें अब उसकी क्रिया होगी......। अद्वैत को व्यवहार में लाने का समय आ गया है। आओ, उसे स्वर्ग के सिंहासन से मर्त्य की भूमि पर ले आयें; यही इस युग के लिये ईश्वरीय योजना है।'

राजसिक प्रवृत्ति का प्रसार:—स्वामीजी की राय में हमारी गरीबी का एक मुख्य कारण है—आलस्य। राजसिक प्रवृत्ति का प्रसार ही उसके दूर करने का उपाय है। वे कहते हैं, 'असल पाप तो यह आलस्य है, जो हमारी गरीबी का मुख्य कारण है।'

'किन्तु क्या यह सब (जीवन की आवश्यकताओं को प्राप्त करना, उद्योग, वाणिज्य-व्यापार और यातायात आदि को बढ़ावा देना) कभी सम्भव हो सकता है, यदि मनुष्यों में यथार्थ रजोगुण न जागे ? मैंने सारे भारत का भ्रमण किया, पर कहीं भी मुझे इस रजस् की अभिव्यक्ति नहीं मिली। सब ओर मैंने तमस् ही तमस् देखा ! लोग तमोगुण से घिरे पड़े हैं। केवल संन्यासियों में ही मैंने इस रजस् और सत्त्व का प्रकाश देखा है।'

'हर व्यक्ति को बताओ कि उसमें अनन्त शक्ति भरी

है, कि वह अक्षय आनन्द का भागीदार है। इस प्रकार लोगों में राजसिक भाव जागृत करो, उन्हें जीवनसंग्राम के योग्य बनाओ और तत्पश्चात् उनसे मुक्ति की बातें करो।'

'इस समय रजोगुण की तीव्र आवश्यकता है! आज जिन्हें तुम सत्त्वगुण से भरा समझते हो, उनमें नब्बे प्रतिशत से भी अधिक लोग घोर तमोगुण में डूबे हुए हैं। यदि उनमें पाँच प्रतिशत भी तुम्हें यथार्थ सात्त्विक मिल गये, तो बहुत है! आज हमें राजसिक शक्ति को प्रबल रूप से जगाने की आवश्यकता है, क्योंकि इस समय सारा देश तमोगुण के घोर अन्धकार में डूबा हुआ है।'

उत्पादन के पाश्चात्य तरीकों को अपनाना:— स्वामीजी के अनुसार गरीबी के उन्मूलन का चौथा उपाय है—वैज्ञानिक उत्पादन के लिए पाश्चात्य (अर्थात् आधुनिक) तरीकों को अपनाना। हमें पश्चिम से वह सब सीखना चाहिए, जो हमें जीवन-संग्राम के लिए मजबूत बनायेगा। पर इसका तात्पर्य यह नहीं कि अपने को क्षुद्र समझते हुए, याचना के स्वर में, मानो उनके उपकारों से दबे हुए-से हम उनसे यह सब सीखें; क्योंकि हम भी पश्चिम को अध्यात्मज्ञान की शिक्षा दे सकते हैं और इस क्षेत्र में उनके गुरु बन सकते हैं।

स्वामीजी कहते हैं, 'तो क्या हमें पश्चिम से कुछ नहीं सीखना है? हमें क्या उच्चतर बातों के लिए प्रयत्न नहीं करना चाहिए? क्या हम पूर्ण हो चुके हैं?...हमें अभी भी कई बातें सीखनी हैं। मरते दम तक हमें नयी और उच्चतर बातों के लिए प्रयत्नशील रहना चाहिए।'

'मैं एक कट्टर की तीव्रता चाहता हूँ और साथ ही भौतिकवादी का विस्तार भी। हमें ऐसे हृदय की आवश्यकता है, जो समुद्र के समान अथाह हो और अनन्त आकाश के समान सीमाहीन। हम विश्व के अन्य किसी भी देश की भाँति उदार विचारवाले हों, पर साथ ही अपनी परम्पराओं के प्रति उतने ही सच्चे संरक्षणशील भी हों जितना केवल हिन्दू ही रह सकता है।'

'हमें पश्चिम से उसकी कलाओं और विज्ञानों को सीखना होगा। पश्चिम से हमें भौतिक प्रकृति के विज्ञानों की शिक्षा लेनी होगी।'

'पश्चिम के विज्ञान की सहायता से भूमि को खोदो और अनाज उत्पन्न करो—पर दूसरों की दासता करते हुए नहीं, बल्कि पाश्चात्य विज्ञान के सहयोग स अपनी भुजाओं के बल पर उत्पादन के नये तरीकों का आविष्कार करके।'

सब कुछ राष्ट्रीय आदर्श के अधीन हो:—हम पश्चिम से चाहे जो सीखें, पर इतनी सावधानी अवश्य रखें कि प्रत्येक बात भारतीय आध्यात्मिकता की ठोस नींव पर ही हो रही है। हर बात को उस राष्ट्रीय आदर्श के अधीन कर देना होगा। राष्ट्रीय जीवन के मूल स्वर को सुरक्षित रखना होगा।

स्वामीजी कहते हैं, 'हमें सदैव अपने घर की सम्पत्ति को अपनी आँखों के सामने रखना चाहिए, जिससे जन-साधारण तक सभी इस बात को हरदम जानें और देखें कि उनकी अपनी पैतृक सम्पत्ति क्या है। हमें इसके लिए

प्रयत्न करना चाहिए। इसके साथ-ही-साथ, बाहर से हमें जो भी प्रकाश मिल सके उसके लिए अपने कपाटों को खुला रखने का साहस भी हममें होना चाहिए।'

'यहाँ यह राष्ट्र है, जिसके जीवन का मूल स्वर है आध्यात्मिकता और त्याग, जिसका एकमात्र सिद्धान्त यही है कि यह संसार थोथा और असार है, दो दिन का सपना है। यहाँ अन्य सभी बातों को चाहे वह विज्ञान हो या ज्ञान, सुखभोग हो या ऐश्वर्य, कंचन हो या कीर्ति, सबको उसी एक मूल स्वर के अधीन कर देना चाहिये।'

'चाहे तुम आध्यात्मिकता में विश्वास करो या न करो, पर राष्ट्रीय जीवन के लिए तुम्हें आध्यात्मिकता को पकड़ना होगा और उससे लगे रहना होगा। तत्पश्चात् अपना दूसरा हाथ बढ़ाओ और दूसरी मानव-जातियों से जो कुछ ले सकते हो ले लो। पर ध्यान रखो, हर बात को जीवन के उस आदर्श क अधीन रखना होगा।'

'जापान में तुम ज्ञान का सुन्दर परिपाक पाओगे। यहाँ के समान ज्ञान का अपच वहाँ नहीं है। वहाँ के लोगों ने सब कुछ यूरोपवासियों से लिया है, पर वे जापानी ही बने रहे हैं, यूरोपियन वे नहीं बने।'

नये व्यवसाय खोलना:—गरीबी की समस्या को हल करने के लिए स्वामीजी ने पाँचवा उपाय बताया—नये व्यवसाय खोलना।

वे कहते हैं, 'हम मूर्खों के समान बाह्य सभ्यता के विरुद्ध आवाजें उठाते हैं। और उठायें क्यों न, अंगूर खट्टे जो हैं!...

बाह्य सभ्यता आवश्यक है। यही नहीं, यह भी आवश्यक है कि हम जरूरत से अधिक तथा दूसरी वस्तुओं का भी उपयोग करें, जिससे गरीबों के लिए नये व्यवसाय खुल सके।'

'भौतिक सभ्यता ही क्यों, ऐश-आराम भी आवश्यक है, जिससे गरीबों को काम मिल सकें।'

आर्थिक प्रगति के लिए विशाल क्षेत्रः—स्वामीजी ने हमें बताया है कि भारत के आर्थिक जीवन में कुछ ऐसी बातें हैं, जिनके कारण महती, यहाँ तक कि, सीमाहीन आर्थिक प्रगति हो सकती है। जैसे, (१) भारत के गरीब दूसरे देशों के गरीबों की तुलना में अच्छे हैं। (२) भारतीय, आत्मा की शक्ति में विश्वास करते हैं, जबकि पश्चिम के लोग भुजाओं की शक्ति में। (३) भारत में प्रचुर प्राकृतिक साधनों का अस्तित्व।

गरीबों, निम्न वर्गों और श्रमिकों के प्रति सहानुभूतिः—स्वामीजी कहते हैं, 'मैं गरीब हूँ—गरीबों को प्यार करता हूँ। मैं इस देश (अमेरिका) के गरीब कहलाने-वाले लोगों को देख रहा हूँ। उनकी अवस्था मेरे देश के गरीबों की अपेक्षा बहुत अच्छी है। तो भी, उनके लिए अमेरिका के न जाने कितने हृदय रोते हैं। और हमारे देश में? वहाँ के सदा से पददलित बीस कोटि स्त्री-पुरुषों के लिए भला किसका हृदय रोता है? उनकी मुक्ति का क्या उपाय है? कौन रोता है उनके लिए? वे अन्धकार से प्रकाश में नहीं आ पाते, उन्हें शिक्षा नहीं मिल सकती; कौन उन्हें आलोक दिखायेगा?'

'जब मैं पश्चिमी देशों में था, तो जगन्माता से प्रार्थना किया करता, "माँ, यहाँ के लोग फूलों की सेज पर सोते हैं, भाँति-भांति के उत्तमोत्तम भोजन करते हैं और कोई ऐसा सुख नहीं है जो वे नहीं भोगते, जबकि मेरे देश के लोग भूखों मर रहे हैं। अम्बे, क्या उनके लिए कोई उपाय नहीं है ?" पश्चिम में जाकर धर्म का प्रचार करने का एक कारण मेरा यह भी था कि मैं अपने देशभाइयों के पेट भरने का कोई उपाय ढूँढ़ना चाहता था।'

समाजवाद सम्बन्धी भविष्यवाणी:-स्वामीजी ने समाजवाद के प्रसार के सम्बन्ध में बड़ी बुद्धिमत्तापूर्ण और दूरदर्शी भविष्यवाणी की थी। निम्नोक्त उद्धरण से यह स्पष्ट हो जायगा :—

'एक समय आनेवाला है, जब शूद्र वर्ग अपने शूद्र-पन को बनाये रखकर ऊपर उठेगा। अर्थात्, शूद्र आज जैसे वैश्य या क्षत्रिय की स्वभावगत विशेषताओं को अपनाकर ऊपर उठ रहा है, वैसा नहीं होगा। बल्कि समय आयेगा, जबकि हर देश का शूद्र अपने अन्तर्जात शूद्र स्वभाव और आदतों के साथ, वैश्य या क्षत्रिय न बनते हुए, प्रत्येक समाज में एकछत्र प्रभुत्व प्राप्त करेगा।...दूसरे सम्प्रदायों की भाँति समाजवाद, अराजकतावाद और शून्यवाद आनेवाली सामाजिक क्रान्ति के अग्रगामी सेनानी हैं।'

राष्ट्रीय समाजवाद के कतिपय तत्त्व:-प्रस्तुत लेखक यह सुझाव देना नहीं चाहता कि विवेकानन्द के सिद्धान्त अपने बाद में आनेवाले आधुनिक राष्ट्रीय समाजवाद को

घोषणा कर गये हैं। तथापि लेखक इस बात का कायल है कि आधुनिक राष्ट्रीय समाजवाद के कुछ महत्त्वपूर्ण तत्त्व निःसन्दिग्ध रूप से स्वामीजी के विचारों और कल्पनाओं में पाये जाते हैं।

अपने भाषणों और लेखों में कई स्थान पर स्वामीजी ने आज्ञापालन के तत्त्व पर अर्थात् नेता के प्रति उचित आज्ञाकारिता या, दूसरे शब्दों में, नेतृत्व के तत्त्व पर विशेष बल दिया है। उदाहरणार्थ नीचे कुछ उद्धरण दिये जाते हैं :—

'आज्ञापालन के बिना शक्ति को केन्द्रित नहीं किया जा सकता और बिना शक्ति के केन्द्रीकरण के कुछ भी नहीं किया जा सकता।'

'जो आज्ञा का पालन करना जानता है, वह आज्ञा देना भी जानता है। पहले आज्ञापालन सीखो।'

निम्नलिखित उद्धरण से प्रतीत होगा कि पिछड़े हुए समाज या जनसमूह के लिए स्वामीजी अधिनायक-तंत्र के महत्त्व को पूरी तरह समझते थे। वे कहते हैं, 'जब शिक्षा के प्रसार के साथ हमारे देश की जनता अधिक सहानुभूतिपूर्ण और उदार बनेगी, जब वह अपने विचारों को सम्प्रदाय या पार्टी की सीमाओं से बाहर निकालना सीखेगी, तब कहीं संघबद्ध प्रजातांत्रिक आधार पर कार्य करना सम्भव होगा। इसीलिए अभी इस समाज के लिए एक अधिनायक का होना आवश्यक है। सभी उसकी आज्ञा का पालन करेंगे। कालान्तर में हम साधारण मतदान के सिद्धान्त पर कार्य कर सकेंगे।'

निष्कर्षः--भावी भारत अतीत के भारत की पुनरावृत्ति

नहीं होगा। स्वामीजी कहते हैं, 'कोई फिर से अपने ग्रन्थों के भारत को, अपने अध्ययन और अपने सपनों के भारत को देखने की इच्छा भले ही कर सकता है। पर मेरी आशा फिर से उस भारत को देखने की है, जिसकी अतीत की विशेषताएँ इस युग की विशेषताओं के द्वारा स्वाभाविक रूप से संवर्धित हुई हैं।' भविष्य का भारत अतीत के भारत की अपेक्षा अनन्तगुना अधिक महिमान्वित होनेवाला है। स्वामीजी भविष्यवाणी करते हुए कहते हैं, 'अद्भुत गौरवशाली भावी भारत आनेवाला है—मुझे निश्चय है कि वह आ रहा है—वह महत्तर भारत, जैसा वह पहले कभी नहीं था।'

पर इसका उपाय क्या हैं ? विवेकानन्द के भाषण और लेख उस लक्ष्य की प्राप्ति के अमूल्य सुझावों से भरे पड़े हैं। और यदि हम अपने सपनों में संजोये हुए भविष्य के महान् भारत को प्रत्यक्ष अपनी आंखों के सामने महिमान्वित सत्य के रूप में साकार करना चाहते है, तो स्वामीजी के सुझावों के अनुसार हमें कार्य करने होंगे।

—'प्रबुद्ध भारत' से साभार।

मुद्रक—राठौर प्रिन्टिग प्रेस, म. गांधी रोड, रायपुर।

विवेकानन्द ग्रन्थावली

सचित्र आकर्षक गेट-अप मूल्य

भारत में विवेकानन्द (भारतीय व्याख्यान) — ५.००
देववाणी (अमरीकी शिष्यों को दिये गए उपदेश) — २ ७५
पत्रावली (विवेकानन्दजी के स्फूर्तिदायक पत्र)
—प्रथम भाग ५ २५
पत्रावली ,, —द्वितीय भाग ४.२५
विवेकानन्दजी के संग में — ५.२५
महापुरुषों की जीवन गाथाएँ — १.५०
जाति, संस्कृति और समाजवाद — १,२५
विवेकानन्दजी की कथाएँ — १.६०
स्वाधीन भारत ! जय हो ! — १.५०
परिव्राजक (मेरी भ्रमण कहानी) — १ ५०
आत्मानुभूति तथा उसके मार्ग — १ ६०
स्वामी विवेकानन्दजी से वर्तालाप — १ ३.
व्यवहारिक जीवन में वेदान्त — १.१
हिन्दू धर्म के पक्ष में — ०.७.
विवेकानन्दजी के सान्निध्य में — ०.६०
भगवान रामकृष्ण, धर्म तथा संघ — ०.८७
कर्मयोग — १.४० भक्तियोग — १.५
राजयोग — १.६० ज्ञानयोग — ३.५
प्रेमयोग — १.३७ सरल राजयोग — ०.५
हिन्दू धर्म — १.५० धर्मरहस्य — १.२५

धर्मविज्ञान — १.६२	शिकागो वक्तृता	मूल्य	०.६२
विविध प्रसंग— १.१२	प्राच्य और पाश्चात्य		१.२५
मेरे गुरुदेव — ०.६२	चिन्तनीय बातें		१.००
शिक्षा — ०.८५	भारतीय नारी		०.७५
कवितावली — ०.६२	मेरा जीवन तथा ध्येय		०.५०
पवहारी बाबा— ०.६०	हमारा भारत		०.६५
वर्तमान भारत- ०.५०	ईशदूत ईसा		०.४०
मरणोत्तर जीवन-०.५०	मन की शक्तियाँ		०.४०

विवेकानन्दजी के उद्‌गार (पाकेट साईज) — ०.६५
शक्तिदायी विचार (,,) — ०.६५
मेरी समर नीति (,,) — ०.६५
विवेकानन्द चरित-सत्येन्द्रनाथ मजुमदारकृत — ६.००

श्रीरामकृष्ण-साहित्य

सचित्र आकर्षक जैकेट-सहित

श्रीरामकृष्णलीलामृत--विस्तृत जीवनचरित्र, महात्मा गाँधी द्वारा भूमिका सहित, दो भागों में, प्रत्येक भाग का ५.००

श्रीरामकृष्णवचनामृत- 'म' कृत, श्रीरामकृष्णदेव के अमृतमय उपदेशों का अपूर्व संग्रह, तीन भागों में पूर्ण, प्रथम भाग— ६.५०
द्वितीय भाग — ६.००
तृतीय भाग — ७.००

श्रीरामकृष्ण उपदेश–स्वामी ब्रह्मानन्द द्वारा संकलित, पाकेट साईज, ०.७५

माँ सारदा- श्रीरामकृष्णदेव की लीलासहधर्मिणी की विस्तृत जीवनी, स्वामी अपूर्वानन्दकृत, मूल्य	४.५०
रामकृष्ण-संघ- आदर्श और इतिहास—स्वामी तेजसानन्दकृत (पाकेट साईज)	०.७५
धर्म-प्रसंग में स्वामी शिवानन्द — श्रीरामकृष्णदेव के अन्तरंग संन्यासी शिष्य द्वारा धर्म के गूढ़ तत्त्वों पर वार्तालाप, दो भागों में, प्रत्येक भाग का	२.७५
परमार्थ प्रसंग—स्वामी विरजानन्दकृत, आर्ट पेपर पर छपी हुई,	३.२५
साधु नागमहाशय—श्रीरामकृष्णदेव के अन्तरंग गृही शिष्य का जीवनचरित,	१.५०
गीतातत्त्व—स्वामी सारदानन्द कृत,	२.८०
भारत में शक्ति पूजा— ,,	१.२५
वेदान्त-सिद्धान्त और व्यवहार-स्वामी सारदानन्दकृत,	०.५०

पुस्तक मिलने का पता—

विवेकानन्द आश्रम

ग्रेट ईस्टर्न रोड, रायपुर [म. प्र.]